श्री जैनधर्म-शिक्षावलिका ।

(भाग सातवां)

लेखक —
उपाध्याय जैन-मुनी श्री आत्मारामजी (पंजाबी)

प्रकाशक —
श्री जैन स्वरूप लायब्रेरी,
म्याचरोद (ग्वालियर)

मुद्रक—सरदार प्रिंटिंग वर्क्स, इंदौर

वक्तव्य ।

प्रिय सुज्ञ पुरुषो ! जैन दर्शन में संग्रह नय के मत से जीव और अजीव द्रव्य ये दोनों अनादि अनन्त माने गए हैं। किन्तु साथ ही यह वर्णन कर दिया है कि भव्यात्माओं के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादि सान्त है ।

सो जिन जीवों को मोक्ष के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मिल जाते हैं वे जीव अनुकूल सामग्री के द्वारा आत्म विकास करते हुए अनुक्रम से निर्वाण पद प्राप्त कर लेते हैं । वास्तव में निर्वाण पद की प्राप्ति के लिये सम्यग दर्शन, सम्यग ज्ञान और सम्यग चारित्र ही हैं किंतु इन तीनों का समावेश दो अर्कों में किया गया है जैसे कि " ज्ञान क्रियाभ्या मोक्ष " ज्ञान और क्रिया से ही मोक्ष पद प्राप्त हो सक्ता है ।

सो मुमुक्षु आत्माए सदैव उक्त दोनों पदार्थों के आराधन में लगी रहती हैं । परन्तु काल की बडी विचित्र गति है जो वह अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहता जैसे कि –इस काल में प्राय॰ लोगों की रुचि धार्मिक क्रियाओं की और दिन प्रति दिन न्यून होती जारही है । यद्यपि इसमें काल दोष भी

माना जाता है किन्तु साथ ही यह कहे बिना भी नहीं रहा जाता कि धार्मिक शिक्षाओं की ओर जनता का ध्यान बहुत न्यून है इसीलिये दिन प्रति दिन सदाचार के स्थान पर कदाचार अपना आसन जमा रहा है ।

जनता का ध्यान फिर कदाचार से हटकर सदाचार की ओर झुक जाय इसी आशा से प्रेरित होकर इस जैन धर्म शिक्षावली नामक पुस्तक की रचना की गई है । इस भाग में सूक्ष्म और स्थूल दोनों विषयों का समावेश किया गया है जो विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी समझा गया है। इस बात में कोई भी संदेह नहीं है कि यावत्काल पर्य्यंत विद्यार्थियों को योग्यता पूर्वक शिक्षण न दिया जायगा, तावत्काल पर्य्यंत वे धार्मिक क्रियाओं से अपरिचित ही रहते हैं ।

अतएव अध्यापकों को उचित है कि वे विद्यार्थियों को जो सूक्ष्म विषय भी हों वे बड़ी योग्यता पूर्वक सिखलावें जिससे वे धार्मिक तत्वों से पूर्णतया परिचित होजाएं ।

यदि विचार कर देखा जाय तो यह भली भांति विदित हो जाता है कि धार्मिक शिक्षा ही के बिना देश वा धर्म का अध पतन हो रहा है । यदि योग्यता पूर्वक धार्मिक शिक्षाओं का प्रचार किया जाय तब जिस प्रकार वर्षा के होने पर पुष्प विकसित होने लग जाते हैं ठीक उसी प्रकार धार्मिक

शिक्षाओं के सेवन से आत्माएं भी विकाश के मार्ग में प्रविष्ट होने लग जाती हैं जिससे फिर कदाचार कोसों दूर भागने लगता है।

इस लिये प्रत्येक व्यक्ति को सबसे प्रथम धार्मिक शिक्षाओं की ओर ही ध्यान देना चाहिये। तथा —

इन सात भागों में यथा योग्य और जिस प्रकार बालक धार्मिक शिक्षाओं से विभूषित होकर अपने आत्मा को विकास मार्ग की ओर लेजा सके उसी प्रकार से उद्योग किया गया है। तथा जिस प्रकार श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन समाज ने इस पुस्तक के छ भागों को अपनाया है ठीक उसी प्रकार इस पुस्तक के सातवें भाग को भी अपनाकर अपने होनहार बालकों को जैन धर्म की परम मार्मिक शिक्षाओं से विभूषित करें जिससें उन बालकों का स्वभाव सदाचार की ओर ही लगा रहे।

शास्त्रों में श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने धर्म प्राप्ति के मुख्यतया दो कारण ही प्रतिपादन किये हैं। जैसे कि सुनना और फिर उसका अनुभव द्वारा विचार करना। इन दोनों कारणों से धर्म प्राप्ति हो सक्ती है।

क्योंकि जब सुनते हैं किंतु अनुभव नहीं करते तदपि धर्म प्राप्ति से वंचित ही रहना पडता है। यदि अनुभव के

द्वारा ठीक विचार कर सकते हैं किंतु किसी धार्मिक शिक्षाओं को सुनते नहीं तो फिर धर्म से वंचित रहना पड़ता है। अतएव सिद्ध हुआ कि धर्म का सबसे प्रथम श्रवण करना मुख्य कर्तव्य है फिर इसका अनुभव द्वारा निश्चय करना विशेष कार्य साधक है।

अतएव श्री भगवान की परम शिक्षाओं का अनुपालन करते हुए प्रत्येक प्राणी को चाहिये कि वह धार्मिक शिक्षाओं से विभूशित होकर मोक्षाधिकारी बनें। सुज्ञेषु किं बहुना।

भवदीय,

उपाध्याय —जैन मुनि आत्माराम

ॐ

श्री जैन धर्म शिक्षावली.

सातवाँ भाग

नमोत्थुण समणस्स भगवतो महावीरस्स (ण)

प्रश्न —जीव किसे कहते है ?

उत्तर —जो आयुष्य कर्म के द्वारा अपना जीवन व्यतीत करता है।

प्रश्न —जीव सादि है या अनादि ?

उत्तर —जीव अनादि है

प्रश्न —सादि किसे कहते है ?

उत्तर —जिसकी आदि हो

प्रश्न. —अनादि किसे कहते हैं ?

उत्तर —जिसकी आदि न हो

प्रश्न —जब आयुष्य कर्म के क्षय होनेसे जीव की मृत्यु होना सिद्ध है तो फिर जीव अनादि किस प्रकार रहा ?

उत्तर —आयुष्य कर्म के क्षय होजानेसे शरीर और जीव का जो परस्पर सम्बन्ध हो रहा था उसका वियोग हुआ परतु आत्मा का नाश नहीं हुआ क्योंकि आत्मा न

उस शरीर को छोडकर फिर अन्य शरीर धारण कर लिया परतु जीव का नाश किसी प्रकार से भी नहीं माना जा सकता कारण कि अनादि पदार्थों का नाश नहीं होता

प्रश्न —जीव नित्य है या अनित्य ?

उत्तर —जीव किसी अपेक्षा से नित्य भी है और अनित्य भी है

प्रश्न —उस अपेक्षा का वर्णन कीजिये जिससे जीव की नित्यता या अनित्यता भली प्रकार से जानी जा सके?

उत्तर —जीवद्रव्य की अपेक्षा से जब हम विचार करते हैं तब द्रव्यार्थिक नय के मत से सिद्ध होता है कि जीवद्रव्य स्वकीय द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है तीनों काल में एक रस मय है किंतु जब हम कर्मों की अपेक्षा से इसकी पर्यायों पर विचार करते हैं तब निश्चित होता है कि जीव द्रव्य अनित्य है जैसे कि —जब जीव स्वकर्मानुसार चारों गतियों में परिभ्रमण करता है तब गतियों की पर्यायों की अपेक्षा से जीव में अनित्यता आजाती है क्योंकि " उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य " द्रव्य का लक्षण माना गया है अतएव जब पूर्व पर्याय का नाश होता है तब उत्तर पर्याय का उत्पाद माना जाता है जैसे कि कोई जीव मनुष्य जन्म की पर्याय को

छोड़कर देव पर्याय को प्राप्त होगया तब उसके मनुष्य पर्याय का तो नाश और देव पर्याय का उत्पाद माना जाता है किंतु जीवद्रव्य की ध्रौव्यता दोनों पर्यायों में सद्रूप रहती है अतएव द्रव्यत्व की अपेक्षा जीवद्रव्य नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से जीवद्रव्य अनित्य है

प्रश्न—जीव द्रव्य अनादि क्यों है ?

उत्तर—इसके कारण की अनुपलब्धता है क्योंकि जिन कार्यों का कारण सिद्ध है वे कार्य अपनी अनादिता सिद्ध नहीं कर सक्ते अत जिन २ पदार्थों के कारणता का अभाव माना जाता है वे पदार्थ अनादि होते हैं

प्रश्न—अनादि किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिसकी आदि उपलब्ध न हो

प्रश्न—ऐसा कोई दृष्टांत दो ?

उत्तर—जैसे जीवद्रव्य को ही लेलीजिये क्योंकि यह द्रव्य भी अनादि माना गया है

प्रश्न—इसके अतिरिक्त कोई अन्यभी हेतु है !

उत्तर—हां जैसे आकाशास्तिकाय वा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि

प्रश्न—जीवद्रव्य के कितने भेद हैं ?

उत्तर —जीव द्रव्य तो षट द्रव्यो म केवल एक ही भेद वाला है परतु मुख्यतया इसके दो भेद हैं जैसे कि बद्ध और मुक्त

प्रश्न —मुक्त जीव के कितने भेद हैं ?

उत्तर —मुक्त आत्मा भेदों से रहित है परतु व्यवहार नय की अपेक्षा से १५ प्रकार के जीव सिद्धगति प्राप्त करते हैं

प्रश्न —वे १५ भेद कौन २ से हैं ?

उत्तर —एकाग्रता से श्रवण कीजिये

१ **तित्थ सिध्दा** —जिस समय श्री तीर्थंकर देव अपने धर्मोपदेश द्वारा साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चार तीर्थों की स्थापना करते हैं उस तीर्थ मे जो आत्माए ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्यकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और अतरायकर्म इन आठों कर्मो को क्षय कर निर्वाण पद प्राप्त करते हैं उन जीवो को तीर्थसिद्ध कहते हैं

२ **अतित्थ सिध्दा** —जबतक श्री भगवान ने अपने धर्मोपदेश द्वारा तीर्थ स्थापन नही किया उस समय कोई आत्मा मोक्ष पद प्राप्त कर लेवे तब उसको अतीर्थ सिद्ध कहते हैं जैसे कि—भगवान ऋषभदेव प्रभु की मरुदेवा माता ने निर्वाण पद प्राप्त किया था

३ **तित्थयर सिध्दा** —तीर्थंकर पद पाकर जो जीव सिध्द पद प्राप्त करते हैं उन्हे तीर्थंकरसिध्द कहते हैं क्योंकि यह पद एक विशेष पुण्य के कारण से प्राप्त होता है

४ **अतियरत्थ सिद्ध** —जो सामान्यकेवली होकर मोक्षारूढ होते हैं क्योंकि राग और द्वेष के क्षय होने से ही केवलज्ञान की प्राप्ति प्रत्येक जीव कर सकता है किन्तु तीर्थंकर नामकर्म विशेष पुण्य के उदय से प्राप्त होता है केवलज्ञान प्रत्येक जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनी, और अंतराय कर्म के क्षय करने से प्राप्त कर सकता है

५ **स्वयबुध्द सिध्दाः**—किसी के उपदेश के बिना वैराग्य भाव प्राप्त कर दीक्षित होजाना और फिर केवलज्ञान पाकर मोक्ष पद प्राप्त करना इसे स्वयबुद्ध सिद्ध कहते हैं।

६ **पतेय बुध्द सिद्धा** —किसी एक वस्तु को देखकर जो बोद्ध प्राप्त करता है उसेही प्रत्येक बुद्ध कहते हैं जिस प्रकार नमीराजर्षि चूडियों का शब्द सुनकर बोद्ध को प्राप्त होगए थे इस प्रकार अनेक व्यक्ति ऐसे होगए हैं जो प्रत्येकबुद्ध होकर मोक्षारूढ हुए हैं

७ **बुद्ध बोहिय सिध्दाः**— जो गुरु के उपदेश के

द्वारा धर्म के मर्म को समझकर फिर दीक्षित हुए हैं और फिर कर्म क्षयकर मोक्ष पद जिन्होने प्राप्त किया है उन्हींको बुद्ध बोधित सिद्ध कहते हैं

८ **इत्थीलिंग सिध्दा**—जो स्त्री के वेष (चिन्ह) में केवलज्ञान पाकर मोक्ष होगए हैं उन्हें स्त्रीलिंग सिद्ध कहते हैं जैसे चन्दनबालादि अनेक आर्याएं मोक्ष गई हैं क्योंकि स्त्रीवेद मोक्ष पद का बाधक है न कि स्त्रीलिंग

९ **पुरिस लिंग सिध्दा**—जो पुरुषलिंग में मोक्ष गए हैं जैसे गौतमस्वामी आदि अनेक महापुरुषों ने राग द्वेषादि अतरग शत्रुओं को जीतकर केवलज्ञान प्राप्त किया फिर चारो अघातिये कर्म क्षयकर मोक्ष पद पाया उन्हे पुरुषलिंग सिद्ध कहते हैं

१० **नपुसक लिंग सिध्दा**—जो नपुसकलिंग में रहने वाले जीव हैं जब उन्होने आठों कर्मों को क्षयकर दिया तब वे मोक्षारूढ होगए अत उनका नाम नपुसकलिंग सिद्ध है

११ **सलिंग सिध्दा**—जैन मुनि के वेष म जो ज्ञाना वरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य कर्म, नाम कर्म, गोत्रकर्म और अतराय कर्म को क्षयकर मोक्ष होते हैं उन्हीं का नाम स्वलिंग सिद्ध है

१२ **अन्यलिंग सिद्धा** —जैन मत से अतिरिक्त जो अन्य मत हैं उनके वेष में जो सिद्ध होते हैं उन्हीं का नाम अन्यलिंग सिद्ध है क्योंकि मोक्ष पद किसी मत के अधीन नहीं है किन्तु जिस आत्मा का राग और द्वेष नष्ट होगया हो तथा जो आत्मा आठों कर्मों से विमुक्त होगया हो वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है

१४ **गिहिलिंग सिध्दा** —गृहस्थ के वेष में सिद्धपद प्राप्तकर सक्ता है क्योंकि बाह्य वेष, मोक्ष पद का साधक नहीं है किन्तु अतरग शत्रु वा आठो कर्म मोक्ष पद के बाधक है अत राग और द्वेष के क्षय करने वाले गृहस्थ लोग भी मोक्ष पद प्राप्त कर सकते हैं

१५ **एग सिध्दा** —एक समय एक ही जीव सिद्धपद प्राप्त करे तब एक सिद्धा कहलाता है

१६ **अणेग सिध्दा** —एक समय मे यदि अनेक जीव सिद्धपद की प्राप्ति करते हैं तब अनेक सिद्ध कहे जाते हैं

प्रश्न—सिद्ध आत्माओं के कौन २ से प्रसिद्ध नाम हैं ?

उत्तर—सिद्ध आत्माओं के अनक शुभ नाम प्रसिद्धि में आरहे हैं जैसे कि:—अजर, अमर, पारगत परम्परा॰ ॰

गत, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परमात्मा, परमेश्वर ईश्वर, शुद्धात्मा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, केवली इत्यादि अनेक नाम सिद्धात्माओं के सुप्रसिद्धि में आरहे हैं

प्रश्न—सिद्ध भगवान या परमात्मादि नामों के जपने में किस फल की प्राप्ति होती है?

उत्तर— आत्मा की शुद्धि होजाती है क्योंकि श्री भगवान का जाप करने से निर्मल और विशुद्ध भाव उत्पन्न हो जाते हैं और उन भावों के कारण से आत्मा अपनी विशुद्धि कर लेता है

प्रश्न—भला नाम रटने से आत्मा अपनी विशुद्धि किस प्रकार कर सकता है क्योंकि यदि परमात्मा फल प्रदाता माना जाय तब तो विशुद्धि होना भी युक्ति युक्त सिद्ध हो जायगा सो ईश्वर फल प्रदाता तो माना जाता ही नहीं तो नाम रटने से विशुद्धि किस प्रकार मानी जा सकती है?

उत्तर—जिस प्रकार एक वस्त्र मल युक्त है जब कोई व्यक्ति उस वस्त्र को जल वा क्षारादि के द्वारा धोता है तब उसके योग्य पुरुषार्थ के कारण से वह वस्त्र शुद्ध हो जाता है ठीक उसी प्रकार जीव जब सिद्ध भगवान का अन्त करण करता है तब उस प्रदेशों

पृथक हो जाता है जिससे वह आत्मा विशुद्धि को प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न —भला नाम रटने से कर्म रूपी सर्प किस प्रकार भाग सकते हैं ?

उत्तरः—जिस प्रकार चन्दन के वृक्ष को सर्प चिपटे हुए होते हैं जब वे मयूर (मोर) वा गरुड के शब्द को सुनते हैं तब वे शब्द को सुनकर भाग जाते हैं। ठीक उसी प्रकार जब आत्मा अर्हंत वा सिद्ध भगवतों का नाम स्मरण कर लेता है तब उसके अंतःकरण में समभाव उत्पन्न होजाता है फिर उस समभाव के उत्पन्न होजाने से उसकी प्राणी मात्र से निर्वैरता होजाती है। जिस समय निर्वैरता हुई तब उस समय उस आत्मा के राग द्वेष के भाव सम होजाते हैं जिस कारण से फिर वह आत्मा कर्म क्षय वा प्राय शुभ कर्मों का ही बंधन करता है। अतएव, अर्हंत वा सिद्ध आत्माओं का आत्म विशुद्धि के लिये पाठ अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न —कर्म शत्रु नष्ट करने के लिये उष्ण भावों की अत्यंत आवश्यकता है क्योंकि यावत्काल पर्यंत शत्रु को उग्रभाव न दिखाया जावे तावत्काल पर्यंत वह शत्रु

पीछे नहीं हट सकता। अत समभाव कर्म शत्रुओं को किस प्रकार पराजय कर सकता है ?

उत्तर —प्रियवर ! समभाव के द्वारा एक प्रकार की अलौकिक शक्ति आत्म प्रदेशों म प्रादुर्भाव में आजाती है। जिस प्रकार शीतल जल यदि किसी नींव म प्रविष्ट होजाय तब वह उस नींव को खलित कर देता है जिसके कारण से फिर उस नींव पर चुनेहुए प्रासादादि नहीं ठहर सकते हैं तथा जिस प्रकार हमपुन (बर्फ का ढेर) बडे२ वृक्षा को सुखा देता है ठीक उसी प्रकार आत्मा का समभाव कर्मों क पराजय करने में अपनी समर्थता रखता है। तथा जिस प्रकार अत्यत उष्ण और प्रचड अग्नि के शांत करने के लिये मेघ का जल, कार्य साधक होता है ठीक उसी प्रकार आत्मा के समभाव कर्म शत्रुआ के उपशम वा क्षयोपशम तथा क्षय करने म समर्थ होते हैं।

प्रश्न —आत्मा में समभाव किस प्रकार उत्पन्न किया जाय ?

उत्तर—जब श्री भगवान के जाप करने का समय उपस्थित हो जावे तब प्रथम ही प्राणि मात्र के साथ निर्वैरता के भाव धारण करलेने चाहिये। फिर पाठ करते समय उनके गुणा की ओर विशेष ध्यान रखना

चाहिये क्योंकि उनके गुणों के आश्रित होकर ही अपने आत्मा में गुण उत्पन्न करलेने चाहिये।

प्रश्न—इस विषय में कोई दृष्टांत देकर समझाओ?

उत्तर—जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुष्प पंक्ति की ओर एक दृष्टी लगाकर देखता रहे तथा चन्द्रमा या जल की ओर देखता रहे तब उस आत्मा के चक्षुओं में शांति के परमाणुओं का संचार होजाता है जिसके कारण से उसके चक्षुओं में शांति आजाती है। ठीक उसी प्रकार श्री भगवान का स्मरण करते हुए एकतो आत्मा में शांति का संचार होजाता है, द्वितीय वर्ण विपर्यय करने से आत्म कल्याण होजाता है जैसे कि - **जिन** ध्यान करते २ जब वर्ण विपर्यय किया गया तब **निज** ध्यान बन जाता है। जब **निज** ध्यान होगया तब **जिन** ध्यान करते समय जो २ गुण जिनेंद्र भगवान में अनुभव द्वारा अनुभव करने में आये थे फिर वे सर्व गुण **निज** आत्मा में माने जा सकते हैं

प्रश्न—इसमें कोई प्रमाण दो?

उत्तर—जिस प्रकार सिद्ध भगवान सर्वज्ञ वा सर्व दर्शी हैं ठीक उक्त गुण मेरे आत्मा में भी विद्यमान हैं किंतु ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के माहात्म्य से

छुपा हुआ है। जिस प्रकार सिद्ध भगवान शारीरिक और मानसिक दुःखों से रहित हैं ठीक उसी प्रकार मेरा आत्मा भी उक्त गुण धारण करने में समर्थ है। जिस प्रकार सिद्ध भगवान क्षायिक सम्यक्त्व के गुणसे युक्त हैं ठीक उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय करने से वह उक्त गुण मेरी आत्मा में भी उत्पन्न हो सकता है।

प्रश्न —आत्म विशुद्धि करने के लिये मुख्य कौन २ उपाय हैं ?

उत्तर —जैन सूत्रों में आत्म विशुद्धि करने के लिये मुख्य दो ही उपाय कथन किये गए हैं।

प्रश्न —उन दोनों उपायों के नाम बतलाइये ?

उत्तर—ज्ञान और क्रिया।

प्रश्न —ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर —पदार्थों को यथावत् जानना अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीन गुण देखे जाते हैं क्योंकि ध्रौव्य उस पदार्थ का निज गुण है। किंतु उत्पाद और व्यय ये दोनों उस पदार्थ के पर्यायिक गुण हैं सो जिस प्रकार पदार्थ में निश्चय और व्यवहार नय से गुण पाये जाते हैं उन गुणोंको उसी

प्रकार जानना यही आत्मा का ज्ञान गुण कहाजाता है सो प्रत्येक पदार्थ का ठीक ज्ञान होजाना फिर क्रियाओं द्वारा अपने अभीष्ट की सिद्धि करना इससे आत्मा विशुद्ध होकर निर्वाण प्राप्त करलेता है जैसे कल्पना करो कि एक वस्त्र मलसे मलीयस होरहा है तब ज्ञान से जान लिया गया कि यह वस्त्र मलसे मलीन होगया है फिर क्रियाओं द्वारा उसे शुद्ध किया जासक्ता है जैसे कि क्षार पदार्थ वा स्वच्छ जलादि की पूर्ण सामग्री के मिल जाने से वह वस्त्र अपने निज गुण को धारण कर लेता है ठीक उसी प्रकार असंख्य प्रदेशी आत्मा अनंत कर्म वर्गणाओं से लिप्त होरहा है तब वे वर्गणाए तप संयमादि के द्वारा आत्म प्रदेशों से प्रथक की जासकती हैं जब वे वर्गणाए सर्वथा आत्म प्रदेशों से प्रथक होजाती हैं तब आत्मा अपने निज स्वरूप में प्रविष्ट होजाता है जिससे फिर उसके आत्मिक गुण भी प्रगट होजाते हैं।

प्रश्न—क्रिया के द्वारा कर्म किये जाते हैं जब तक क्रिया का निरोधन नहीं किया जायगा तबतक कर्म भी आने से नहीं रुकेंगे अतएव, यह मानना कि क्रिया से जीव कर्मों से रहित होजाता है यह पक्ष स्वय बाधित है

उत्तर—प्रिय मित्रवर्य्य ! यह कथन स्याद्वाद के सिद्धांत पर अवलम्बित है क्योंकि स्याद्वाद में प्रत्येक पदार्थ सापेक्षिक भाव में रहता है जैसे कि जीव सक्रिय भी है और अक्रिय भी है क्योंकि जैन सूत्रों में जीवक्रिया और अजीवक्रिया इस प्रकार क्रिया के दो भेद प्रतिपादन किये गए हैं साथ ही यह भी प्रतिपादन कर दिया है कि सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया यह दोनों जीव क्रिया के भेद हैं परन्तु ईर्यापथिकी और समुदान की क्रिया यह दोनों अजीव क्रिया के भेद हैं सो आत्मा सम्यक्त्व क्रिया के द्वारा अजीव क्रिया से रहित होकर निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है किन्तु जीव क्रिया के अपेक्षा से जीव मोक्ष में भी अक्रियता ही धारण किये रहता है जैसे कि—जब आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है तब उस आत्मा के साथ एक उपयोग आत्मा भी रहता है। जो कि क्षायिक सम्यक्त्व के हो जाने से फिर आत्मज्ञान में वलवीर्यांतराय कर्म के क्षय के कारण से उपयुक्त कराता है वही जीव की अक्रियता (नेष्ठा) सिद्ध करता है किन्तु जिनके द्वारा आठ कर्मों का आत्मा के साथ बंधन होना व तथा आत्मा पुद्गल

के सम्बन्ध में फसा रहे उस क्रिया के फलरूप कर्म से आत्मा विमुक्त होजाता है ।

प्रश्न —आत्मा स्वय ज्ञानस्वरूप नहीं है किन्तु ज्ञान पदार्थों से उत्पन्न होता है जैसे किसी को प्रथम घट का ज्ञान नहीं था जब उसने फिर किसी घट को देखा तब उसको घट का ज्ञान उत्पन्न होगया तो इससे स्वत सिद्ध होजाता है जब कि घट से पूर्व उस व्यक्ति को घट का ज्ञान नहीं था किन्तु जब उसने घट को देख लिया तब उसको घट का ज्ञान होगया इसलिये आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है किन्तु ज्ञान पदार्थगत ही सिद्ध होता है ।

उत्तर —प्रियवर ! यह कथन आपका युक्ति बाधित है क्योंकि जब आत्मा स्वय ज्ञानस्वरूप न होता तब यह घटादि पदार्थों का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त कर सक्ता? जिस प्रकार आखों को निर्मल होनेपर ही पदार्थों का ठीक २ ज्ञान हो सक्ता है ठीक उसी प्रकार आत्मा ज्ञानस्वरूप होने पर ही पदार्थों का अवबोध प्राप्त कर सकता है क्योंकि जिस प्रकार दीपक स्वय और पर प्रकाशक होता है ठीक उसी प्रकार आत्मा के विषय में भी जानना चाहिये । क्योंकि जिस प्रकार दीपक पदार्थों से न उत्पन्न होने पर

भी पदार्थों का प्रकाशक देखा जाता है ठीक उसी प्रकार आत्मज्ञान भी पदार्थों से उत्पन्न न होने पर भी पदार्थों का प्रकाशक मानाजाता है।

प्रश्न—ज्ञान नित्य है किम्वा अनित्य ?

उत्तर—कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य भी है

प्रश्न—यह दो बातें किस प्रकार मानी जावें कि ज्ञान नित्य भी है और अनित्य भी है ?

उत्तर—जैन मत में सर्व पदार्थों का वर्णन स्याद्वाद के आश्रित होकर किया गया है जैसे कि—आत्मद्रव्य नित्य होनेपर उसका ज्ञानगुण भी नित्य ही माना जा सकता है परन्तु जिन पदार्थों का ज्ञान हुआ है वे पदार्थ अनंत पर्याय युक्त हैं अतः उनके पूर्व पर्याय का व्यवच्छेद और उत्तर पर्याय का उत्पाद समय २ पर होता रहता है। जब पदार्थों की इस प्रकार की दशा है तब उनके समान उत्पाद और व्यय नयकी अपेक्षा से ज्ञान गुण में भी नित्य पक्ष और अनित्य पक्ष की संभावना की जासकती है। सो उक्त न्याय से सिद्ध हुआ कि ज्ञानगुण नित्य भी है और अनित्य भी है।

जिस प्रकार प्राग भाव और प्रध्वंसा भाव का ज्ञान नित्य और अनित्य माना जाता है ठीक उसी

प्रकार अन्य पदार्थों के विषय में भी जानना चाहिये

प्रश्न —प्रागभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर —जिस पदार्थ का वर्तमान काल मे उस आकृति रूप का अभाव हो जैसे मिट्टी में घट। यद्यपि वह घट मृतिका रूप मे सद्रूप है परतु वर्तमान मे घटाकार में उसका अभाव माना जाता है सो इसी का नाम प्रागभाव है

प्रश्न —प्रध्वसाभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर—जब वह घट अपने घटाकार को छोडकर अन्य रूप को प्राप्त होजाता है अर्थात् फूट जाता है सो उसी का नाम प्रध्वसाभाव है। जिस प्रकार प्रथम प्रागभाव का ज्ञान सद्रूप है ठीक उसी प्रकार प्रध्वसाभाव में भी ज्ञान सद्रूप विद्यमान रहता है। परतु प्रागभाव और प्रध्वसाभाव का परस्पर महा विरोध रहता है सो इसी मे नित्य पक्ष और अनित्य पक्ष की सभावना की जासक्ती है।

प्रश्नः—आत्मा अनुरूप है या विभुरूप ?

उत्तर —यदि आत्मा को अनुरूप माना जाय तब उसके रहने का एक स्थान भी शरीर के भीतर मानना पडेगा। जब उस आत्मा का एक स्थान

होगया है तब उसी स्थान पर ही सुख या दुख की सभावना थी जासकेगी, नतु सर्व शरीर पर।

सो यह पक्ष प्रत्यक्ष मे विरोध रखता है क्योंकि ऐसा देखने में नहीं आता है कि शरीर के किसी नियत स्थान पर ही सुख या दुःख का अनुभव किया जा सकता हो।

अतएव सिद्ध हुआ कि आत्मा को अनुरूप मानना युक्ति सगत नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय कि जिस प्रकार दीपक एक स्थान पर ठहरने पर प्रकाश सर्वत्र करता है ठीक उसी प्रकार आत्मा के विषय मे भी जानना चाहिये।

सो यह कथन भी युक्ति शून्य है क्योंकि वायु आदि के आघात से दीपक को हानि पहुच सकती है नतु प्रकाश को। इस कथन से तो हमारा प्रथम पक्ष ही सिद्ध होगया जो कि हमने कहा था कि नियत स्थान पर ही सुख या दुख का अनुभव होना चाहिये। अतएव अनुरूप जीव मानना युक्तियुक्त नहीं है।

अपितु जिस प्रकार अनुरूप जीव मानने पर आपत्ति आती है ठीक उसी प्रकार विभु मानने पर भी दोषापत्ति आजाती है जैसे कि – जब जीव को विभुरूप माना गया तब सुख या दुःख का अनुभव

शरीर के अतिरिक्त बाहिर होना चाहिये सो ऐसा नहीं होन से यह पक्ष भी प्रत्यक्ष से विरोध रखता है तथा जब अनंत आत्मा के मानने पर फिर प्रत्येक आत्मा को "विभु" रूप माना जाय तब उन आत्माओं के आत्मा प्रदेशों वा कर्मों की परस्पर सङ्कमता अवश्य होजायगी। जिससे फिर सकट लेप की प्राप्ति सहज में ही होजायगी। अतएव विभुरूप मानना भी युक्ति युक्त नहीं है। तथा जब हम देखते हैं तब बुद्धि आदिका अनुभव शरीर के भीतर ही किया जाता है न तु शरीर से बाहर

यदि ऐसा कहा जाय कि — जब किसी वस्तु का अनुभव करना होता है तब एकान्त स्थान या उर्ध्व दिशा की ओर ही देखा जाता है इससे स्वत सिद्ध है कि यदि आत्मा विभुन होता तो फिर एकान्त या उर्ध्व दिशा के देखने की क्या आवश्यकता थी ?

सो यह कथन भी युक्ति बाधित ही हैं क्योंकि जब आत्मा सर्व व्यापक ही मानलिया गया तब फिर एकान्त वा उर्द्ध दिशा के देखने की आवश्यक्ता ही क्या है ? क्योंकि आत्मा सर्व व्यापक एक रस-मय ही मानना पड़ेगा। नतु न्यूनाधिक।

अतएव किसी एकान्त स्थान की तो इसलिये आव श्यकता पड़ती है कि जिससे कोलाहल या शब्दादि का विशेष संकुल न हो क्योंकि उक्त कारणों से चित्तवृत्ति स्थिर न रहने से कार्य सिद्धि का प्राय अभाव सा प्रतीत होने लगता है सो उक्त कारणों से विभुरूप भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सक्ती है।

तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि फिर आत्मा का प्रमाण किस प्रकार मानना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जासक्ता है कि यदि हम द्रव्य-आत्माके प्रदेश की ओर देखते हैं तब तो वे प्रदेश धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय तथा लोकाकाश के यावन्-मात्र प्रदेश हैं तावन्मात्रा प्रदेश एक आत्मा के प्रतिपादन किये गए हैं।

इस कथन से तो कथंचित् आत्मा विभु भी माना जा सक्ता है। किंतु आत्म प्रदेश संकुचित और विकास होने के स्वभाव के कारण से मध्यम प्रमाणवर्ती प्रतिपादन किया गया है।

जैसे जिस शरीर में आत्मा प्रविष्ट होता है तब उस आत्मा के आत्म प्रदेश तावन्मात्र शरीर में ही व्याप्त हो जाते हैं जिससे सुख या दुःख का अनुभव करने वाला सर्व [सारा] शरीर देखा जाता है

क्योंकि ज्वरादि के आवेश हो जाने पर शरीर के सर्व आगोपाग दु ख का अनुभव करते हुए दृष्टि गोचर होते हैं।

अतएव व्यवहार पक्ष मे आत्मा मध्यम परिमाणवर्ती मानना युक्ति युक्त सिद्ध होता है।

प्रश्न:—क्या कभी आत्मा लोकाकाश के समान लोक में व्यापक हो जाता है?

उत्तर—हां हो सक्ता है।

प्रश्न—कब?

उत्तर—जिस केवली भगवान का आयुष्यकर्म न्यून हो किंतु असातावेदनीय कर्म आयुष्यकर्म की अपेक्षा अधिक होवे तब उस केवली भगवान को केवली-समुद्घात होजाता है जिसके कारण से उनके आत्म प्रदेश शरीर से बाहिर निकलकर सर्व लोक में व्याप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार तेल का बिंदु जलोपरि विस्तार पाजाता है ठीक उसी प्रकार आत्म प्रदेश लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है। यद्यपि प्राय असातावेदनीय कर्म के भोगने के लिये ही यह क्रिया होती है तथापि लोकाकाश परिमाण आत्म प्रदेशों का विस्तार हो जाना उस अपेक्षा से आत्मा विभु कहा जा सक्ता है। यद्यपि यह दशा जीवकी—

आठ समय तक ही रह सक्ती है क्योंकि फिर वह आत्म प्रदेश स्वशरीर में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। तथापि कथंचित् आत्मप्रदेशों के गणना की अपेक्षा से आत्मा विभुरूप भी कहा जा सक्ता है।

प्रश्न :—जो लोक प्रकृति कर्ता और पुरुष भोक्ता इस प्रकार मानते हैं तो क्या उनका कथन सत्य नहीं है ?

उत्तर —किसी प्रकार से भी उनके कथन में सत्यता प्रतीत नहीं होती। क्योंकि प्रकृति जड़ता गुण संयुक्त है तो फिर वह कर्ता शुभाशुभ क्रियाओं की किस प्रकार सिद्ध हो सक्ती है ? तथा जड़ता गुण वाली प्रकृति की क्रिया का फल पुरुष को मानना यह न्याय संगत नहीं है।

क्योंकि प्रत्यक्ष में देखने में आता है कि कर्ता की क्रिया का फल कर्ता को ही भोगना पड़ता है। जिस प्रकार शयन रूप क्रिया का फल उस कर्ता को ही होता है जिसने शयन किया था नतु अन्य को ठीक इसी प्रकार यदि प्रकृति को ही कर्ता माना जावे तब प्रकृति को ही भोक्ता मानना चाहिये न कि पुरुष को। यदि ऐसा कहा जाय कि आपके [जैन] मत में भी योगात्मा और कषायात्मा को ही कर्ता माना गया है इसी प्रकार यहांपर भी प्रकृति विषय जानना

चाहिये। क्योंकि दोनों की समानता परस्पर सम है। इसका समाधान इस प्रकार किया जाता है कि जो जैन मत में योगात्मा और कषायात्मा किसी नय की अपेक्षा से कर्ता मानी गई है क्योंकि उनमें भी द्रव्यात्मा का परिणमन माना गया है सो द्रव्यात्मा का परिणमन होने से ही उन आत्माओं की कर्ता सञ्ज्ञा हो गई है। क्योंकि मन वचन और काय तथा क्रोध मान माया और लोभ यह द्रव्यात्मा के आश्रित होने से ही इनकी आत्मा सञ्ज्ञा बन गई है।

सो सिद्धांत यह निकला कि प्रकृति कर्ता और पुरुष भोक्ता मानना यह पक्ष युक्ति युक्त नहीं है।

द्वितीय पाठ।

आत्मा।

शास्त्रकारों ने आत्मा विषय अनेक प्रकार से वर्णन किया है। क्योंकि आत्मा की सिद्धि हो जाने से ही फिर बद्ध और मोक्ष की सिद्धि की जा सकेगी। कारण कि बद्ध और मोक्ष कर्मों की अपेक्षा से आत्मा कथन किया गया परतु आत्मा तो एक अजर अमर अविनाशी आदि गुणों के धारने वाला है। इसमें , सदेह नहीं है कि जब आत्मा

की सिद्धि भली प्रकार से होजाने तब उस समय ही आत्मा को पुण्य और पाप आश्रव और संवर बद्ध और मुक्त इत्यादि विषयों का भली भांति बोध हो सक्ता है ।

यद्यपि प्रत्येक आस्तिक मत ने आत्मा का स्वरूप अपनी इच्छानुसार वर्णन किया है किंतु यह स्वरूप सर्वज्ञोक्त न होने से यथार्थ आत्मा का बोध नहीं करा सकता है ।

क्योंकि वे लोग स्वयं ही आत्मा विषय में भ्रम युक्त हैं । तो भला फिर वे आत्मा का यथार्थ वर्णन किस प्रकार कर सक्ते हैं । अतएव उन लोगों का आत्मा विषय कथन का संतोष प्रद निश्चित नहीं होता ।

जैसे कि किसीने आत्मा अणुरूप मान लिया है तो फिर दूसरे ने आत्मा को विभुरूप वर्णन कर दिया है, किसी ने यवाकार आत्मा स्वीकार किया है । तो फिर किसीने पांच स्कंधों का समुदायरूप आत्मा मान लिया है ।

इतना ही नहीं किंतु किसी ने आत्मा को परमेश्वर का अंश माना हुआ है, तो फिर किसी ने आत्मा को ब्रह्मरूप मान रक्खा है ।

किसी ने आत्मा ज्ञानस्वरूप कथन किया है तो फिर दूसरे ने आत्मा ज्ञानगुण से शून्य मान रक्खा है या किसी ने आत्मा को कर्ता माना है तो फिर किसी ने इसका

कर्त्तापन परमात्मा के समर्पण कर दिया है क्योंकि जब किसी ने आत्मा को ईश्वराधीन किया तो दूसरे ने इसको भवितव्यता के आधीन कर दिया है।

इतना ही नहीं किंतु अनेक प्रकार के मन्तव्य आत्मा विषय में सुने जाते हैं जो परस्पर विरोध रखनेवाले हैं।

अत विचार करना पडता है कि जिन २ वादियों ने आत्मा का स्वरूप वर्णन किया है वास्तव में उन वादियोंने आत्मा का विषय भली भांति अवगत किया ही नहीं। क्योंकि यह विषय युक्ति सहन नहीं कर सक्ता है। अतएव श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामीने स्याद्वाद के आश्रित होकर उक्त विषय को यथार्थ भाव से वर्णन किया है जिसमें किसी प्रकार से भी शका को स्थान नहीं मिल सकता।

हा, यह बात दूसरी है कि जहा पर हेतु काम न करे वहा हेत्वाभास से काम लिया जावे सो वह कदाग्रह कहलायगा नतु न्याय। अत जैन सूत्रकारों ने सामान्यतया दो द्रव्य प्रतिपादन किये हैं जैसे कि एक आत्मद्रव्य और दूसरा अनात्मद्रव्य। यद्यपि जीवद्रव्य को आठ गुण युक्त माना गया है जैसे कि — सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, आत्मिक अक्षय सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, निरायु, अमूर्तिक, अगोत्रीय और अनत शक्तिमान।

इन मूल गुणों के अतिरिक्त अपर गुण अनन्त इस आत्मा के प्रतिपादन किये गए हैं।

किंतु जब आत्मा कर्मों से युक्त है तब वे उत्त गुण प्राय कर्मों के आवरणों से आच्छादित हैं। सो कर्मों की उपाधि भेद से आत्मा एक होने पर भी आत्मद्रव्य आठ प्रकार से वर्णन कियागया है जैसे कि -

१ द्रव्यात्मा, कषायात्मा ३ योगात्मा ४ उपयोगात्मा ५ ज्ञानात्मा, ६ दर्शनात्मा, ७ चारित्रात्मा और ८ वीर्यात्मा। जो निरंतर स्वपर्याय को प्राप्त होता रहता है उसे आत्मा कहते हैं तथा जो निरंतर ज्ञानादि अर्थों में गमन करता रहता है उपयोग लक्षण से युक्त है उसी का नाम आत्मा द्रव्य है।

सो तीन काल में जो अपने द्रव्य की अस्तित्व रखता है किसी काल में भी द्रव्य से अद्रव्य नहीं होता और कषायादि से युक्त है उसीको द्रव्यात्मा कहते हैं।

कारण कि द्रव्य की अपेक्षा से ही आत्मद्रव्य अनादि कहाजाता है क्योंकि द्रव्य नित्य और पर्याय नित्य माना जाता है सो द्रव्य नित्य प्रतिपादन किया गया है। अतएव आत्मद्रव्य भी नित्य ही सिद्ध होगया। यद्यपि द्रव्य शब्द का अर्थ द्रव्य से अद्रव्य नहीं हो सक्ता। इसलिये द्रव्यात्मा अनादि प्रतिपादन किया गया है।

जब द्रव्यात्मा पुद्गल का सम्बन्ध हो जाने से चार वस्तुओं

म गमन करने लग जाता है तब उस समय द्रव्यात्मा गौण रूप होकर प्रधान कषायात्मा नाम से फिर उसे कहा जाता है।

क्योंकि कषाय सञ्ज्ञा क्रोध, मान, माया और लोभ की कथन की गई है जैसे कि यह क्रोधी आत्मा है, यह मानी आत्मा है यह मायी (छल करने वाला) आत्मा है यह लोभी आत्मा है। सो इन चारों नामसे उस समय द्रव्यात्मा उक्त चारों में परिणित हो जाता है। उक्त ही अपेक्षा से फिर उसे कषायात्मा कहा जाता है।

फिर जिस समय द्रव्यात्मा मन, वचन और काय के व्योपार में प्रविष्ट होता है उस समय उस द्रव्यात्मा को योगात्मा कहा जाता है। इसी नय की अपेक्षा से कहाजाता है कि अपनी आत्मा ही वश करना चाहिये। सो यहापर आत्मा शब्द से मन आदि का वर्णन किया गया है। क्योंकि मनयोग, वचनयोग और काययोग में द्रव्यात्मा का ही परिणमन हुआ है। इसी कारण से उसे मन योग कहते हैं।

सो मनमें चार प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं इसी कारण से मन के भी चार ही भेद प्रतिपादन किये गए हैं जैसे कि जिस समय मन में सत्य सकल्प उत्पन्न होता है तब उस समय सत्यमनःयोग कहाजाता है। जिस समय मन में असत्य सकल्प उत्पन्न होता है तब उस समय असत्य मन योग कहा

जाता है फिर जब सत्य और असत्य इस प्रकार के सकल्प उत्पन्न होने लगते हैं तब उस समय मिश्रित मनःयोग कहा जाता है। अपितु जब असत्य अमृषा सकल्प उत्पन्न होने लगता है तब उस समय व्यवहार मन योग कहा जाता है।

क्योंकि "असत्यामृषा" उसका नाम है जो वास्तव मे असत्य ही होवे परतु व्यवहार पक्ष में उसे असत्य भी न कहा जा सके। जैसे किसी पथिक ने कहा कि वह "ग्राम आगया" सो इस कथन से यह तो भली भाति सिद्ध हो जाता है कि पथिक ही आ रहा है नतु ग्राम उसके पास आता है। परतु व्यवहार पक्ष में यह वाक्य कहने में आता ही है कि वह ग्राम आगया है सो इस प्रकार के सकल्पों का नाम "असत्यामृषा" सकल्प कहा जाता है। सो इस प्रकार चार प्रकार के सकल्प मन योग के कहे जाते हैं।

जब आत्मा का मन से सम्बन्ध होगया तब उपचारक नय की अपेक्षा से वा परस्पर सम्बंध की अपेक्षा से मन का भी आत्मा कहा जाता है। जिस प्रकार आत्मा का मनसे सम्बन्ध है ठीक उसी प्रकार वचन और काय के सम्बन्ध विषय म भी जानना चाहिये। क्योंकि मन योग वचनयोग और काययोग केवल आत्मा के सम्बन्ध से ही कहे जाते हैं।

अतः द्रव्यात्मा को कषायात्मा भी इस नय की अपेक्षा से कहा जाता है।

सो यह कषाय और योग के सम्बन्ध मे द्रव्यात्मा का परिणमन जब कषाय और योग के साथ होता है तब आत्मा की कषयात्मा वा योगात्मा सज्ञा बन जाती है।

तथा आत्मा का चेतना लक्षण और उपयोग युक्त है सो इसी न्याय से उपयुक्त होकर शास्त्रकारने एसा प्रतिपादन किया है कि —

जिस समय आत्मा ज्ञान वा दर्शन के उपयोग से उपयुक्त होता है तब उसी समय उस द्रव्यात्मा की उपयोगात्मा सज्ञा होजाती है।

यद्यपि ऐसा कोई भी समय उपस्थित नहीं होता जब कि आत्मा ज्ञान दर्शन के उपयोग मे शून्य होजावे तथापि सामान्य अवबोध द र्शन का नाम है और विशेष अवबोध ज्ञान का नाम है। सो द्रव्यात्मा सदैव-काल ज्ञान दर्शन के उपयोग से युक्त रहने से आत्मा की उपयोगात्मा सज्ञा बनगई है।

सो उपयोग युक्त होने से उपयोगात्मा कहा जाता है तथा उपयोगात्मा के कथन करने से ज्ञान दर्शन की सक्रिया सिद्ध की गई है। क्योंकि बहुत से आत्मा को मोक्षावस्था में ज्ञान और दर्शन मे शून्य मानते हैं सो उनका वह कथन हास्यास्पद है क्योंकि जब मोक्षावस्था को जीव प्राप्त हुआ तब वह अपनी मूल की भी चेतना खो बैठा ?

इससे सिद्ध हुआ कि उस मोक्ष से उस आत्माकी सांसारिक अवस्था ही अच्छी थी जिससे वह चलता फिरता था और सुख वा दुःख का अनुभव करता था।

यदि ऐसा कहाजाय कि "ज्ञाने न ज्ञानी" ज्ञान से ज्ञानी बनता है सो इस कथन से सिद्ध हुआ कि जब ज्ञान का जीव से संयोग हुआ तब ही जीव को ज्ञानी कहागया। सो जब तक आत्मा के साथ ज्ञान का संयोग नहीं हुआथा तब तक आत्मा ज्ञान से शून्य ही मानना पड़ा। अतएव सिद्ध हुआ कि — ज्ञानगुण आत्मा का नहीं है सो मोक्षावस्था में ज्ञानसे शून्य आत्मा का मानना न्याय संगत है क्योंकि ज्ञानसे श्रेष्ठ वा निकृष्ट पदार्थों का बोध किया जाता है। जब श्रेष्ठ वा निकृष्ट पदार्थों का बोध हुआ तब आत्मा को राग वा द्वेष में फसना स्वाभाविक ही है।

अतः इस कारण से आत्मा को ज्ञान शून्य मानना युक्तियुक्त है। सो इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जाता है कि —

ज्ञान को गुण प्रत्येक वादीने स्वी॰॰ किया है सो गुण द्रव्य के आश्रित होता ही है अतः फिर ज्ञानरूप गुण का द्रव्य कौनसा स्वीकार किया जाय? यदि ऐसा कहा जाय कि — ज्ञान पदार्थों से होता है तो इसका यह समाधान है कि वह ज्ञान किसको होता है? क्योंकि पदार्थ दो हैं। जैसे कि

जीव और अजीव। यदि जीव को होता है तब जीव चैतन्यता गुण युक्त सिद्ध हुआ सो चैतन्यता ही ज्ञान का नाम है। सो इस कथन से हमारा पक्ष ही सिद्ध होगया। यदि ऐसा कहा जाय कि—जड पदार्थों को ज्ञान होता है तो यह कथन तो प्रत्यक्ष ही विरुद्ध है। यदि ऐसा कहा जाय कि जड पदार्थों से ज्ञान होता है तबतो वह उक्त प्रश्न ही फिर उपस्थित हो जाता है कि किस पदार्थ को ज्ञान उत्पन्न होता है?

अतएव सिद्ध हुआ कि आत्मा को ज्ञान युक्त मानना युक्ति युक्त है। सो इसी की अपेक्षा से द्रव्यात्मा जब ज्ञान और दर्शन के उपयोग संयुक्त होजाता है तब उस आत्मा को उपयोगात्मा कहा जाता है।

तथा उपयोग की अपेक्षा से ही आत्मा को सर्व व्यापक माना जाता है। क्योंकि उपयोग की अपेक्षा से आत्मा लोकालोक को हस्तामलकवत् जानता और देखता है।

जिस प्रकार सूर्य एक आकाशवर्ती क्षेत्र में होने पर नियमित रूप से भूमि पर प्रकाश करता हुआ ठहरता है। ठीक उसी प्रकार द्रव्यात्मा एक नियमित क्षेत्र मे रहने पर भी उपयोगात्मा द्वारा सर्व व्यापक होजाता है।

तथा जिस प्रकार छद्मस्थ मनुष्य जिस क्षेत्रको भली प्रकार देख वा उस क्षेत्र (स्थान) का अनुभव कर चुका है

किसी नियमित स्थान पर बैठकर आत्म स्मृति द्वारा उस स्थान को भली प्रकार अपने आत्मा द्वारा स्पर्श करता है।

इतना ही नहीं किंतु किसी न्याय द्वारा उस आत्मा को उस स्थान में उपयोगात्मा द्वारा यदि व्यापक भी स्वीकार किया जाय तो अत्युक्ति न होगी। सो जिस प्रकार मति-ज्ञान द्वारा पदार्थों का अनुभव किया जाता है ठीक उसी प्रकार जो परम विशुद्ध और निर्मल (स) केवल ज्ञान है उस के द्वारा तो फिर कहना ही क्या है॥

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि—द्रव्यात्मा को ज्ञान और दर्शन तथा उपयोग युक्त मानना युक्तियुक्त सिद्ध होगया। परन्तु अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि "ज्ञान का लक्षण या ज्ञान किसे कहते हैं?" सो इस प्रश्न का समाधान अगले पाठ में किया जायगा।

तृतीय पाठ
ज्ञानात्मा.

जिस प्रकार द्रव्यात्मा कषायात्मा योगात्मा और उप-योगात्मा का पूर्व पाठ में वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार इस पाठ में ज्ञानात्मा का वर्णन किया जाता है।

प्रश्न—ज्ञान शब्द का अर्थ क्या है?

उत्तर—जिसके द्वारा पदार्थों का स्वरूप जाना जाय उसे ही ज्ञानात्मा कहते हैं।

प्रश्न—ज्ञान शब्द करण साधन है या अधिकरण साधन है ?

उत्तर—करण साधन भी है और अधिकरण साधन भी है।

प्रश्नः—इस विषय में कोई प्रमाण दो।

उत्तर—जब ऐसा कहा जाय कि अमुक पदार्थ का स्वरूप ज्ञानसे जाना गया तब तो ज्ञान शब्द को करण-साधन माना जायगा और जब यह माना जाय कि ज्ञान ज्ञायक है, या ज्ञान में पदार्थ ठहरते हैं तब उस समय ज्ञान को अधिकरण साधन माना जायगा।

प्रश्न—करण को तो साधकतम माना गया है सो करण कर्ता की क्रिया में सहायक होता है किंतु जब कर्ता अपना अभीष्ट क्रिया से निवृत्त होता है तब उसकी सहायता करनेवाला करण भी उस कर्ता से पृथक होजाता है। जिस प्रकार किसी ने इस वाक्य का प्रयोग किया कि यह पुरुष पर्शु से काष्ट (को) भेदता है। सो पुरुष की भेदन क्रिया में पर्शु (कुल्हाडा) सहायक है। परंतु जब यह अपनी क्रिया से निवृत्त होता है तब उस पुरुष की क्रिया में सहायक पर्शु भी फिर उस पुरुष से पृथक

होजाता है। सो इसी प्रकार जब ज्ञान को करण साधन माना जायगा तब उसमें भी उक्त ही दोषापत्ति आजायगी। अतएव ज्ञान को करण साधन मानना भी युक्ति युक्त नहीं है।

इस शका का समाधान इस प्रकार किया जाता है कि —

ज्ञान को करण साधन मानना युक्तियुक्त है क्योंकि शास्त्रमें करण दो प्रकार से माना गया है जैसे कि - एक बाह्य करण और द्वितीय अतरग करण सो जो बाह्य करण होता है वह तो कर्ता की क्रिया की समाप्ति हो जाने पर कर्ता से पृथक हो ही जाता है जैसे पर्शु को ही मानलो परतु जो आभ्यन्तरिक करण होता है वह कर्ता की क्रिया में सहायक बनकर भी कर्ता से पृथक नहीं होता। किसी पुरुषने कहा कि "अमुक पदार्थ मैंने अपनी आखों से देखा है" इस वाक्य में आखें करण बन गई हैं सो यह आख पदार्थ के देखे जाने के पश्चात कर्ता से पृथक नहीं होती तथा किसीने यह कहा कि " मैं अमुक वस्तु को मनमे जानता हू " सो इस कथन से वस्तु के जानने म मन करण बनगया है परतु जब वस्तु का बोध होगया तो फिर कर्ता से मन पृथक भी नहीं होसक्ता तथा किसीने कहा कि " ज्ञान से आत्मा जाना जाता है " सो इस कथन से आत्मद्रव्य जानने के लिये ज्ञान करण कथन किया गया है सो जब ज्ञान द्वारा आत्मद्रव्य को जान

लिया तो फिर ज्ञान आत्मा मे पृथक नहीं होता। जिस प्रकार किसी ने कहा कि "अमुक पुरुष ने कहा कि अमुक शब्द मैंने अपनी कर्णेंद्रिय (कानों द्वारा सुना है)" तो क्या फिर शब्द सुनने के पश्चात यह सुनने वाला आत्मा कर्णेंद्रिय से रहित होजायगा ? कदापि नहीं।

सो उक्त युक्तियो से ज्ञान को करण साधन मानना युक्ति युक्त है तथा इसी प्रकार ज्ञान को अधिकरण मानना भी न्याय सगत है कारण कि ज्ञानसे कोई भी पदार्थ बाहर नहीं है। इस न्याय के आश्रित होकर यह भली भांति से कहा जासक्ता है कि ज्ञान में ही सब पदार्थ ठहरे हुए हैं।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि ज्ञानात्मा मानना युक्तियुक्त सिद्ध है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब आत्मा ज्ञानरूपही है तो फिर परस्पर बुद्धि आदि की विभिन्नता क्यों है ?

इसके उत्तर मे कहा जा सक्ता है कि ज्ञानावरणीय कर्म क कारण से ज्ञान उदय मे जीवों की विभिन्नता देखी जाती है जैसे कि —

कोई मद बुद्धि वाला है और कोई आशु प्रज्ञावाला है। इसी क्रम से उत्तरोत्तर विषय संभावना कर लेनी चाहिये। क्योंकि असंसारी आत्मा छद्मस्थ और मुक्त आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है।

सो उक्त कारण से ज्ञानावरणीय कर्म के पाच भेद वर्णन किये गये हैं, जैसे कि —मति ज्ञानावरणीय १ श्रुत

२ अवधि ज्ञानावरणीय ३ मन पर्यव [य] ज्ञानावरणीय ४ और केवल ज्ञानावरणीय ५।

जब आदि के चार ज्ञान प्रकट होते हैं तब ज्ञानावरणीय कर्म क्षयोपशम भाव में होता है परन्तु जब केवल ज्ञान प्रकट होवे तब ज्ञानावरणीय कर्म सर्वथा क्षय होजाता है क्योंकि चार ज्ञान तो क्षयोपशम भाव में प्रतिपादन किये गए हैं और केवलज्ञान क्षायिक भाव में रहता है।

जब आत्मा के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है तब उसी प्रकार का ज्ञान प्रगट होजाता है जैसे कि —

जब मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होगया तब मतिज्ञान प्रकट हो जाता है जैसे कि —

मतिज्ञान के मुख्य दो भेद कथन किये गए हैं। श्रुत निश्रित और अश्रुत निश्रित। श्रुत निश्रत मतिज्ञान उसका नाम है पदार्थों के विषय को सुनकर जो मति उत्पन्न होती है उसीका नाम श्रुत निश्रित ज्ञान है किन्तु जो बिना सुने किसी विषय को फिर उस विषय पर प्रश्न किये जाने पर शीघ्र ही उस विषय का समाधान कर सके उसी का नाम अश्रुत निश्रित मतिज्ञान है।

यद्यपि यह ज्ञान इंद्रिय और नोइंद्रिय (मन) के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है तथापि मति में विशेष उपयोग

देने पर यह ज्ञान विशदरूप से भासमान होने लगजाता है।

इसी कारण से श्रुत निश्रित मतिज्ञान के मुख्यतया चार भेद प्रतिपादन किये गए हैं जैसे कि—अवग्रह १ ईहा २ अवाय ३ और धारणा ४।

१ **अवग्रह**—सामान्य बोध का नाम अवग्रह है जिसके मुख्य दो भेद हैं जैसे कि व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। जब श्रुतेन्द्रिय के साथ अव्यक्त रूप से शब्दादि के परमाणुओं का सम्बन्ध होता है उसीका नाम व्यञ्जनावग्रह है परन्तु जब उस शब्द के द्वारा कुछ अव्यक्त रूप से अर्थ की प्रतीति होने लगे तब अर्थावग्रह होता है। जैसे—कल्पना करो कोई पुरुष शयन किये हुए है तब उस पुरुष को किसी पुरुष ने प्रति-बोध (जगाया) किया तब वह अव्यक्त रूप शब्द को सुनकर केवल 'हुंकार' ही करता है सो उसी समय का नाम अवग्रह है क्योंकि अवग्रह के समय में केवल सामान्य अवबोध ही रहता है सो वह भी अव्यक्त रूप से।

२ **ईहा**—जब अवग्रह के अनन्तर ईहा का समय आता है तब अवग्रह से विशिष्ट अवबोध ईहा का होजाता है जैसे कि "उसी शब्द पर वह फिर विचार करता है कि यह अमुक शब्द है क्योंकि प्रथम तो केवल शब्द को सुनकर उसने केवल "हुंकार" ही किया था। जब उस शब्द पर कुछ "ईहा" मतिज्ञान का प्रभाव पडा तब उसने

शब्द अमुक व्यक्ति का है इस प्रकार के अवग्रह से विशिष्ट ईहारूप ज्ञान को प्राप्त कर लिया।

३ **अवाय**—जब ईहा द्वारा अमुक का शब्द है इस प्रकार का अवबोध हो चुका तब फिर यह अवाय द्वारा निश्चय करता है कि यह शब्द अमुक व्यक्ति का ही है वा यह अमुक पदार्थ ही है अन्यथा नहीं है। इस प्रकार के निश्चयात्मक वाक्य अवाय मतिज्ञान के भेद के होते हैं क्योंकि ईहा के अर्थों का निर्णय अवाय द्वारा ही किया जा सकता है। इसलिये मतिज्ञान का तृतीय भेद अवाय रूप वर्णन किया है।

४ **धारणा**—जब पदार्थों का अवाय द्वारा निर्णय भली प्रकार किया जा चुका तो फिर उस निर्णीत अर्थ की मन से धारणा करनी उसीका नाम धारणा है और यह संख्यात काल वा असंख्यात काल की प्रतिपादन कीगई है क्योंकि धारणा का सम्बन्ध आयुष्कर्म के साथ है सो यदि संख्यात काल की आयु है तो धारणा भी संख्यात काल पर्य्यंत रहसकती है। यदि असंख्यात काल की आयु है तो धारणा भी असंख्यात काल की हो सकती है।

अतएव धारणा के दो भेद किये गए हैं तथा अविच्युति १ वासना २ और स्मृति ३ इस प्रकार धारणा के तीन भेद वर्णन किये गए हैं। इनका अर्थ निम्न प्रकार जानना चाहिये।

जैसे कि —जिस विषय के अर्थ को जान लिया है फिर उस अर्थ के विषय सदैव उपयोग लगे रहना उसीका नाम अविच्युति है।

स्मृति के हेतुभूत संस्कार का नाम वासना है अर्थात् किसी पदार्थ की स्मृति करने की सदैव वासना लगी रहना तथा उसी प्रकार उपयोग विषय भूतार्थ पदार्थ की कालान्तर में स्मृति होना कि यह वही पदार्थ है सो यह सब श्रुत निश्रित मतिज्ञान के भेद हैं।

जिस प्रकार श्रुत निश्रित मतिज्ञान के चार भेद वर्णन किये गए हैं ठीक उसी प्रकार अश्रुत निश्रित मति ज्ञान के भी चारों ही भेद प्रतिपादन किये गए हैं जैसे कि—औत्पातिकी बुद्धि, वैनयिकी बुद्धि कार्मिकी बुद्धि और पारिणामिकी बुद्धि अर्थात् जिस बुद्धि, द्वारा वादी की तर्क सर्व प्रकार से स्वबुद्धि द्वारा पूर्ण कीजाय उसीका नाम औत्पातिकी बुद्धि है। धर्म, अर्थ, और काम शास्त्र में निपुणता उत्पन्न करने वाली गुरु की विनयसे जो बुद्धि उत्पन्न होजाती है उसीका नाम वैनयिकी बुद्धि है।

किन्तु जिस कर्म का अधिक अभ्यास किया जाय फिर उसी कर्म में निपुणता भी अधिक बढजाती है इसीलिये इस बुद्धि का नाम कार्यकी बुद्धि है।

अथवा प्रतिज्ञा के हेतु मात्र से साध्य साधिका रूप अवस्था के परिपाक से पुष्टीभूत, अभ्युदय और मोक्ष के देनेवाली जो बुद्धि है उसीका नाम् पारिणामिकी बुद्धि कहते हैं।

यद्यपि मतिज्ञान के अनन्त पर्याय हैं तथापि इस स्थान पर यत्किंचित यह विषय वर्णन किया गया है।

यहा पर केवल मतिज्ञान का यही लक्षण सिद्ध करना था। मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मति निर्मल होजाती है जिस प्रकार उक्त ज्ञान का वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होजाने से श्रुतज्ञान प्रगट होजाता है जैसे कि अक्षर श्रुतादि इस ज्ञान के अनेक भेद प्रतिपादन किये गए हैं।

वैसेही जब किसी गुरु आदि के मुख से कोई तत्व विषय वार्ता सुनी जावे फिर उस वार्ता के तत्व का अपनी निर्मल बुद्धि द्वारा अनुभव किया जाय तब अनुभव द्वारा ठीक निश्चित होजाय सो उसी का नाम श्रुत ज्ञान है।

परंतु स्मृति रखना चाहिये कि एक तो सम्यक्श्रुत होता है और एक मिथ्याश्रुत होता है। जब नय वा प्रमाणों द्वारा पदार्थों का ठीक २ स्वरूप सुना जाता है उसे सम्यक्-श्रुत कहा जाता है किंतु जो नयाभास और प्रमाणाभास द्वारा पदार्थों का स्वरूप सुना जाता है वही मिथ्याश्रुत

होता है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष आत्मा के कर्तापन को देखकर उसे तो अकर्ता स्वीकार करना किंतु जो सर्व प्रमाणों से अकर्ता सिद्ध होता है उसे कर्ता मान लेना जैसे कि ईश्वर जगत् कर्ता किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता उसे ता कर्ता सिद्ध करना पन्थ जो आत्मा प्रत्यक्ष मे किया कर्ता सिद्ध है उसे अकर्ता मानना यही मिथ्याश्रुत का लक्षण है।

तथा जिस श्रुत से धर्म और मोक्ष का फल तो उपलब्ध न होवे किंतु अर्थ और काम की सर्वथा सिद्धि की जावे उसका नाम भी मिथ्याश्रुत है क्योंकि मिथ्याश्रुत से ससार-चक्र में परिभ्रमण की वृद्धि हो जाती है और सम्यक्श्रुत से आत्मा ससारचक्र से पार होने का उपाय ढूढता है।

तथा ससार की सर्व क्रियाए मतिज्ञान श्रुतज्ञान वा मतिअज्ञान वा श्रुतअज्ञान के आधार पर चल रही हैं।

अतएव प्रत्येक आत्मा उक्त ज्ञान वा अज्ञान से सयुक्त है।

जब अवधिज्ञानावरणीय कर्म क्षयोपशम होता है तब आत्मा अवधिज्ञान युक्त होजाता है किंतु यह ज्ञान मनकी सहायता से कार्य साधक होता है इसीलिये यह रूपी द्रव्यो के देखने की शक्ति रखता है क्योंकि —

अवधिज्ञान में रूपी द्रव्य इसीलिये अभिगत होते हैं कि यह ज्ञान मन की सहायता से अपने कार्य की सिद्धि

करता है। इसीलिये इसे प्रमाण पृथक रूपी द्रव्यों के जानने वा देखने वाला अवधिज्ञान कहा जाता है।

परन्तु जब मन पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म क्षयोपशम हो जाता है तब आत्मा को मन पर्यय ज्ञान प्रकट हो जाता है। इस ज्ञान के द्वारा आत्मा मनोगत द्रव्यों के जानने की शक्ति रखता है। अर्थात् मनुष्यक्षेत्रवर्ती यावन्मात्र सज्ञी (मनवाले) पचेन्द्रिय जीव हैं उनके मनके जो पर्याय हैं उनके जानने की शक्ति इसी ज्ञान को होती है। यद्यपि इस ज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति इस प्रकार के दो भेद प्रतिपादन किये गए हैं तथापि उनका मुख्य उद्देश सामान्य बोध वा विशेष बोध ही है तथा ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति पदार्थों के स्वरूप का विशद रूप से जानता वा देखता है। यावन्ये ये चारो ही ज्ञान क्षयोपशम भाव के भावों पर ही अवलम्बित है। परन्तु जब आत्मा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अंतराय इन चारों ही कर्मों को क्षय करता है तथा क्षायिक भाव में प्रविष्ट होता है तब उस आत्मा को सर्व प्रत्यक्ष कवलज्ञान की प्राप्ति होजाती है जिससे फिर वह केवली आत्मा सब भावों को हस्तामलकवत् जानने और देखने लग जाता है।

परन्तु केवली भगवान् दो प्रकार से वर्णन किये गए हैं। जैसे कि एक भवस्थ (जीवन मुक्त) और दूसरे सिद्धस्थ सो

जीवनमुक्त केवली भगवान् हैं। उनके शुभ नाम अर्हन्, पारगत, जिन, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग इत्यादि नाम कहे जाते हैं। वे सदैवकाल अपने सत्योपदेश द्वारा भव्य जीवों पर परोपकार करते रहते हैं।

उनके अमृत मय उपदेशों से लाखों प्राणी अपना उद्धार करलेते हैं किंतु वे आयुष्यकर्म, वेदनीय कर्म, नामकर्म और गोत्र कर्म इन चारकर्मों से सयुक्त होते हैं।

परतु जो सिद्धभगवान हैं वे सर्वथा कर्मों के बधनों से विमुक्त हैं। उनका आत्मा कर्म कलक से रहित होने से सर्वज्ञ वा सर्वदर्शी अनत शक्ति वाला होता है। वे सदैव आत्मिक सुख का अनुभव करते रहते हैं। वे ज्ञानात्मा से सर्व व्यापक माने जाते हैं, उनके शुभ नाम अनत हैं और उन्हीं को ईश्वर, परमात्मा, अजर, अमर, सिद्ध वा बुद्ध, पारगत या परम्परागत ज्योतिस्वरूप इत्यादि नामों से कहा जाता है। वे भव्य प्राणियों के शरण भूत हैं।

इस प्रकार उक्त पांचों ज्ञानों की अपेक्षा से द्रव्यात्मा को ज्ञानात्मा भी कहते है।

जिन लोगोंने द्रव्यात्मा को ही सर्व व्यापक मान लिया है उनका मत सत् युक्तियों से खडित होजाता है क्योंकि जब द्रव्यात्मा ही सर्व अपने अवयवों से व्यापक है

ता फिर अन्य आत्मा कार स्थिति करेगे ? अतएव ज्ञान द्वारा सब व्यापक मानना युक्ति सपन्न है । जिस प्रकार सूर्य मडल आकाश पर स्थित होनेपर भी अपने परिमित क्षेत्र को प्रकाशित करता है ठीक उसी प्रकार अपर अमर आत्मा लताग्र भाग मे स्थित होने पर भी अपने परिमित वा अपरिमित क्षेत्र को प्रकाशित कर रहा है ।

वैसेही वह अस्थिर होने पर भी रूपी वा अरूपी सब द्रव्यो के भावो को हस्तामलकवत जानता और देखता है सो उक्त कथन स द्रव्यात्मा का ज्ञानात्मा मानना युक्ति युक्त सिद्ध हुआ अतएव द्रव्यात्मा को हम ज्ञानात्मा भी कह सकते हैं ।

चतुर्थ पाठ ।

दर्शनात्मा ।

जिस प्रकार नदी का पार करने के लिये नावकी आवश्यकता होती है तथा जिस प्रकार पदार्थों के देखने के लिये आखा की आवश्यकता होती है वा जिस प्रकार सुख अनुभव करने क लिये पुण्य कर्म की आवश्यकता होती है तथा जिस प्रकार बोध प्राप्त करने के लिये ज्ञान की आवश्यकता होती है वा जिस प्रकार विद्या प्राप्ति के लिये गुरु की भक्ती की आवश्यका है तथा यशोकीर्ति सपादन करने के लिये

वाला मृग मृत्यु की शरण गत क्यों होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि —

विश्वास भी तीन प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे कि, १ सम्यग् विश्वास २ मिथ्या विश्वास ३ मिश्रित विश्वास। इनका तात्पर्य इस प्रकार जानना चाहिये।

१ सम्यग् विश्वास —जिस प्रकार के पदार्थ हों उसी प्रकार का उनका ज्ञान प्राप्त किये जाने पर फिर तद्वत् ही उन्हीं पर विश्वास किया जाय इसी का नाम सम्यग् विश्वास है। जैसे कि —जीव को जीव ही जानना जड़ को जड़ ही मानना तथा सामाजिक पदार्थों के विषय में भी यथार्थ बुद्धि का धारण करना उसी का नाम यथार्थ विश्वास है। फिर उसी का परिणाम भी विश्वास के तुल्य ही प्राप्त होता है। जैसे कि —जब रुपये को रुपया ही मानता है तब उसका फल भी उसके समान ही उसको मिल जाता है। परन्तु यदि वह रुपये को सुवर्ण मुद्रा मानने लगजाय इतना ही नहीं पर वह अपना दृढ़ विश्वास भी करलेवे परन्तु जब व्यापारादि क्रिया में वह पुरुष प्रयत्न शील होकर उस रुपये को सुवर्ण मुद्रा के रूप में प्रयत्नशील होगा तो वह कदापि सफल मनोरथ नहीं बन सकेगा क्योंकि उसका प्रयत्न यथार्थ नहीं है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि सम्यग् पदार्थों पर सम्यग् ही विश्वास किया जाय तभी फलीभूत कार्य हो सकता है।

२ मिथ्या विश्वास—जिस प्रकार के पदार्थ हों उन पदार्थों से विपरीत निश्चय धारण करना उसी का नाम मिथ्या विश्वास है जैसे कि कल्पना करो कि जीव को अजीव मानना तथा आत्मा को अकर्ता और परमात्मा को कर्ता इसी प्रकार अन्य पदार्थों के विषय में भी जानना चाहिये क्योंकि मिथ्या विश्वास इसी का नाम है कि यथार्थ निश्चय का न होना।

कल्पना करो कि कोई व्यक्ति माता, भगिनी, पुत्री तथा भार्या को एकरूप से देखता है। सो यह मिथ्या विश्वास है। तथा ईश्वर में कर्तृत्व विश्वास धारण कर लेना वा एक आत्मा को ही सर्व व्यापक मान लेना, नास्तिक बन जाना इत्यादि ये सब मिथ्या विश्वास कहलाते हैं। इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि विश्वास का होना अत्यन्त आवश्यकीय है परन्तु यदि सम्यग् विश्वास होगा तो वह कार्य की सिद्धि में एक प्रकार साधकतम करण बन जायगा। यदि मिथ्या विश्वास होगा तो वह कार्य सिद्धिमें विघ्न के रूप में उपस्थित बन पड़ेगा।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि मिथ्या विश्वास कदापि धारण न करना चाहिये।

३ मिश्रित विश्वास—सब पदार्थों को एक समान ही जानना, सत्य और असत्य का निर्णय न करना, चाहे साधु हो वा असाधु, श्रेष्ठ या निकृष्ट, भद्र हो या कुटिल, धर्म हो वा [illegible] पुण्य की क्रिया हो या पाप की,

हो या पारस्परिक सबको एक समान ही जानता उसी का नाम निश्चित विश्वास है। इस विश्वास के द्वारा प्राणी अपना कल्याण करने में समर्थ होता है तथा न्याय करने में भी इस प्रकृति वाला आत्मा अपनी अयोग्यता सिद्ध करता है कारण कि वह सबको एक समान ही जानता है। अतएव सम्यग् दर्शन प्रत्येक मुमुक्षु आत्माओं को धारण करलेना चाहिये।

जिस प्रकार संक्षेप रूप से उक्त तीनों दर्शनों का वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार सामान्य अवबोध की अपेक्षा से चार दर्शनों का विस्तार निम्न प्रकार से किया गया है। जैसे कि—

१ चक्षुदर्शन —जब आंखों से किसी पदार्थ को देखा जाता है तब प्रथम सामान्य अवबोध होता है जैसे कि क्या यह अमुक पदार्थ है?

इस प्रकार से जो पदार्थों के देखने से बोध पैदा होता है उसी का नाम चक्षुदर्शन है।

दर्शन इसे इसलिये कहा गया है कि जब सामान्य बोध होगया, तदनु फिर उसी पदार्थ का विशेष बोध हो जाता है। फिर उसी पदार्थ को ज्ञान द्वारा निर्णीत किये जाने पर विशेष

बोध के नामसे कहा जाता है। जिसे फिर वह पदार्थ ज्ञान के उपयोग मे आजानेसे साकारापयोग में आजाता है।

२ **अचक्षुदर्शनः**—आखों के विना चारों इद्रियों द्वारा वा मन के द्वारा जिन २ पदार्थों का निर्णय विना किये सामान्य वोध होता है उसे ही अचक्षुदर्शन कहते हैं। जैसे कि यह किसका शब्द है? आदि।

इसी प्रकार जब घ्राणेंद्रिय में किसी गध के परमाणुओं का प्रवेश होता है तब उसीके विषय में भी प्रागुवत् जानना चाहिये।

तथा जब रसनेंद्रिय में पुद्गल प्रविष्ट होते हैं तब भी पहिले उनका सामान्य बोध ही होता है। इसी प्रकार जब स्पर्शेंद्रिय में पुद्गलों का स्पर्श होता है तब भी उस स्पर्श द्वारा शीत वा उष्णादि स्पर्शों का सामान्य बोध ही होता है।

सो इस प्रकार के बोध का नाम सामान्य वोध है। तथा जब कोई स्वप्न आता है तब प्रतिबोध हो जाने पर उस पर विचार किया जाता है कि मुझे क्या यही स्वप्न आया है वा अमुक? इस प्रकार के बोध को नोइद्रियदर्शन कहा जाता है तथा ये सब भेद अचक्षुदर्शन के ही हैं।

— जब अवधिदर्शनावरणीय क्षयोपशम तब अवधिदर्शन प्रकट

अथात् वह अपने अनरग भावों से रूपी पदार्थों के देखने की शक्ति उत्पादन करलेता है। जब यह आत्मीय उपयोग द्वारा सामान्य प्रकार से पदार्थों को देखता है उस समय उसे अवधि दर्शनी कहा जाता है।

कारण कि आत्मशक्ति द्वारा सामान्य प्रकार से पदार्थों क स्वरूप का देखना यही अवधिदर्शन का मुख्य लक्षण है।

इस क्रिया के करते समय मनकी सहायता आत्मा को अवश्य लेनी पड़ती है। इसी कारण से अवधिदर्शन द्वारा आत्मा, रूपी पदार्थों के देखने की शक्ति रखता है क्योंकि मन, रूपी पदार्थ है अतएव वह रूपी पदार्थों का ही देख सकता है।

४ केवलदर्शन —जब ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय और अंतराय कर्म, ये चारों कर्म क्षय होजाते हैं तब आत्मा को केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट होजाता है।

इसके कारण से अनतज्ञान, अनतदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व और अनन्त शक्ति यह निजकीय चारों गुण आत्मा में प्रगट होते हैं इसी कारण से फिर उसके आत्मा को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी या अनत शक्तिवाला कहा जाता है।

परतु जहा पर केवल वर्णन इस बातका है कि केवल-दर्शन द्वारा पदार्थों का सामान्य रूप से स्वरूप जाना जाता है तब उस समय आत्मा में केवलदर्शन होता है तथा इद्रीदर्शनों व्दारा आत्मा को दर्शनात्मा कहा जाता है।

क्याकि जब आत्मा उक्त दर्शनों से युक्त होता है तब उसकी दर्शनात्मा सज्ञा वन जाती है।

यदि ऐसा कहा जाय कि जब ज्ञान ही आत्मा में प्रकट होगया तो फिर दर्शन के मानने की क्या आवश्यक्ता है? इस शका के उत्तर में कहा जाता है कि —ज्ञान से पूर्व दर्शन अवश्यमेव होता है तदनु ज्ञान होता है इसलिये दर्शन के मानने की अत्यत आवश्यक्ता है। तथा जबतक सम्यग् (यथार्थ) विश्वास (दर्शन) किसी पदार्थ पर है ही नहीं तब तक उस पदार्थ का ज्ञान भी यथार्थ नहीं कहा जासक्ता। अतएव दर्शन का होना सर्व प्रकार से अत्यत आवश्यकत्ता रखता है।

यदि एसा कहा जाय कि प्रत्येक मत अपने २ दर्शन में दृढ हैं तो फिर क्या उनको दर्शनी न कहा जाय?

इसके उत्तर में कहा जा सक्ता है कि प्रत्येक मत को दर्शनी तो कहा जा सक्ता है परतु उक्त तीन प्रकार के जो दर्शन कथन किये गए हैं उन तीनों में सम्यग्दर्शन ही अपनी प्रधानता रखता है नतु अन्य।

क्योंकि मुक्ति की सिद्धि में सम्यग्दर्शन ही क्रिया साधक बताया है न तु अन्य दर्शन।

इसलिये सिद्धान्तवादियों ने लिखा है कि चारित्रहीन तो कदाचित मुक्ति की प्राप्ति भी करले परन्तु दर्शन हीन का तो कभीमोक्ष गामी हो ही नहीं सक्ता।

सो उक्त ही कारणों से दर्शन की अपेक्षा से द्रव्यात्मा को दर्शनात्मा भी कहा जा सक्ता है।

साथ में यह भी कहना अनुचित न होगा कि सम्यग् दर्शन के लिये अर्हन्त प्रणीत शास्त्रों का अवश्यमेव स्वाध्याय करना चाहिये।

पाठ पांचवाँ।
चारित्रात्मा।

जिस प्रकार दर्शनात्मा विषय वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार चारित्रात्मा विषय वर्णन किया जाता है।

आत्मा की रक्षा करने वाला और सुगति मार्ग को दिखलाने वाला लोक और परलोक में यश उत्पादन करने वाली आत्मा की एक मात्र अंतरंग लक्ष्मी सदाचार ही है।

जिन आत्माओंने सदाचार से मुख मोडलिया है वे नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव कर रहे हैं।

कारण कि सदाचार के बिना मनुष्य का जीवन निरर्थक माना जाता है क्योंकि वह अपने जीवन का सर्वस्व खो बैठता है। जिस प्रकार तिलों से तेल के निकल जाने पर शेष खली रह जाती है तथा दधि से माखन (नवनीत) के निकल जाने पर फिर तुच्छ रूप तक छाम (छा) रह जाती है या इक्षु रस के निकल जाने पर फिर इक्षु का तुच्छ फोक रह जाता है या उदन् (चावलों के निकल जाने पर फिर केवल तुप रह जाता है ठीक उसी प्रकार सदाचार के न रहने से शेप जीवन भी निरथक रह जाता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सदाचार किसे कहते हैं? इसके उत्तर में कहा जाता है कि जिन क्रियाओं के करने से आत्मा अपने निज स्वरूप मे प्रविष्ट होजाय उसीका नाम सदाचार वा चारित्र है क्योंकि आत्मा अनादि काल से कर्मों का सग होने से नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव कर रहा है परतु जब वह आत्मा कर्ममल से विमुक्त होता है तब ही वह आत्मा अपने निज स्वरूप मे प्रविष्ट हो सकता है।

सो उस स्वरूप मे प्रविष्ट होने के लिये सर्वव्रत और देशव्रत इस प्रकार के दो प्रकार से चारित्र का वर्णन किया गया है जैसे कि —

सर्वव्रत चारित्र उसका नाम है जिसके द्वारा सर्व प्रकार से कर्मों का आना बन्द किया जाय। जिस प्रकार सरोवर के पांच नालों (मार्गों) से पानी आता रहता है और जब वह जल आने के मार्ग निरोध किये जायँ तब वह जल आना बन्द होजाता है। ठीक उसी प्रकार आत्मा रूपी सरोवर में कर्म रूपी जल आता रहता है। जब उन मार्गों का निरोध किया जाय तब वह कर्म रूपी जल आना बन्द होजाता है और फिर पूर्व कर्म रूप जल ध्यान, तपादि द्वारा सुखा दिया जाता है जिससे आत्मा फिर विशुद्धि को प्राप्त होजाता है। परन्तु ये क्रियाएँ भली प्रकार से यदि की जायँ तो, जैसे कि —

१ सब प्रकार से प्राणातिपात का परित्याग —अर्थात सूक्ष्म या स्थूल अपने लिये या परके लिये अथवा दोनों के लिये किसी प्रकार से भी जीव की हिंसा न की जाय।

साथ ही मन से, वाणी से या काया से न स्वय हिंसा की जाय न और ... जाय तथा जो हिंसा करते हैं उनकी अनु... क्योंकि यह बात स्वाभाविक मानी ... किसी प्राणी का किसी प्राणी से वैर ... उसे की प्राप्ति क्यों न ... समाधि अवश्यमेव ...

अतएव प्राण...
प्रथम उक्त व्रत के...

मृषावाद का परित्याग—सर्व प्रकार से असत्य भाषण न करना चाहे मरणांतिक कष्ट क्यों न उपस्थित होजाय परंतु अपने मुख से कदापि असत्य वचन का प्रयोग न करना।

कारण कि असत्य वादी पुरुष अविश्वसनीय बन जाता है अत वह फिर धर्म के भी अयोग्य होता है क्योंकि धर्म का मुख्य उद्देश सत्य पदार्थों का वर्णन करना है। उसका उद्देश सत्य के छिपाने का होता है अतएव धर्म के अयोग्य ही कथन किया गया है। सो सत्य के माहात्म्य को समझते हुए असत्य वचन का प्रयोग कदापि न करना चाहिये।

अदत्त का परित्याग—साधुवृत्ति के योग्य जो ग्राह्य पदार्थ भी हैं उनको भी विना आज्ञा न उठाना जैसे कि—कल्पना करो कि साधु को किसी तृण के उठाने की आवश्यक्ता हुई है तो उसको योग्य है कि वह तृण भी किसी की विना आज्ञा न उठावे। चौर्य कार्य का जो अंतिम परिणाम होता है वह लोगों के सन्मुख ही है। कारागृहादि सब अन्याय करने वालों के लिये ही बने हुए होते हैं फिर उन स्थानों में उनकी जो गति होती है उसमें भी लोग अपरिचित नहीं हैं। अतएव सिद्ध हुआ कि चौर्य्य कर्म कदापि न करना चाहिये। सर्व प्रकार से मैथुन कर्म का परित्याग—सर्व प्रकार से मैथुन कर्म का परित्याग करना अर्थात् ब्रह्मचारी बनना कारण कि शारीरिक वा आत्मिक शक्ति इस नियम पर ही निर्भर है। परंतु जो पुरुष ब्रह्मचर्य के आश्रित नहीं होते

वे अपमृत्यु, रोग और शोकादि मयुक्त सदैव रहा करते हैं। उनके शरीर की कांति या आत्मबल सर्वथा निर्बल पड़ जाता है। अतएव अपने कल्याण के लिये इस व्रत के आश्रित होकर अपने अभीष्ट की सिद्धि करनी चाहिये क्योंकि यावन्मात्र स्वाध्याय या ध्यानादि तप हैं वे सब इस की स्थिरता में ही स्थिर या कार्य साधक बन सकते हैं। अत निष्कर्ष यह निकला कि ब्रह्मचर्य अवश्यमेव धारण करना चाहिये।

सर्व प्रकार से परिग्रह का परित्याग करना —धर्मोपकरण को छोड़कर और किसी प्रकार का भी संचय न करना तथा संसार में यावन्मात्र क्लेश उत्पन्न हो रहे हैं उनमें प्राय मुख्य कारण परिग्रह का ही होता है क्योंकि ये सब धनादि क्लेश के कारणी भूत कथन किये गए हैं। इसके कारण से सम्बन्धियों का सम्बन्ध छूट जाता है परस्पर मृत्यु के कारण से विशेष दुःखों का अनुभव करते हैं, अतएव महर्षि परिग्रह के बंधन से सर्वथा विमुक्त रहें।

सर्व प्रकार से रात्रि भोजन का परित्याग करना – जीव रक्षा के लिये या आत्म समाधि या तप कर्म के लिये रात्रि भोजन भी न करना चाहिये। कारण कि प्रथम तो रात्रि भोजन करने से प्रथम व्रत का सर्वथा पालन हो ही नहीं सक्ता। द्वितीय समाधि आदि क्रियाओं के करते समय ठीक पाचन न होने से रात्रि भोजन एक प्रकार का विघ्न उपस्थित कर देता है।

तथा लौकिक में यावन्मात्र शुभ कृत्य माने जाते हैं वे भी रात्रि को नहीं किये जाते जैसे श्राद्धादि कृत्य। अतएव रात्रि भोजन से सदैव काल निवृत्ति करनी चाहिये।

तदनु अपना पवित्र समय ज्ञान या ध्यान में ही व्यतीत करना चाहिये क्योंकि शुक्लध्यान द्वारा अनत जन्मों के सचय किये हुए कर्म अत्यंत स्वल्प काल में ही क्षय किये जा सके हैं।

सर्व प्रतिरूप धर्म में सर्व प्रकार की क्रियाओं का निषेध किया जाता है। जिससे शीघ्र ही मोक्ष उपलब्ध हो जाता है। इस प्रकार की क्रियाओं के करने से उसे चारित्रात्मा कहाजाता है क्योंकि यह व्यवहारिक में भी सुप्रसिद्ध है कि अमुक सदाचारी आत्मा है और कदाचारी (दुराचारी) आत्मा है।

जब सर्ववृत्ति का कथन किया गया है तो इस कथन से स्वत ही सिद्ध होजाता है कि देशव्रत्ती का भी कथन होना चाहिये।

जिस प्रकार सर्वव्रत का कथन सूत्रों म किया गया है ठीक उसी प्रकार प्रसगवश से देशव्रत का भी कथन किया गया है। जैसे कि —जब कोई आत्मा गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होना चाहे तब [illegible] न बातों का अवश्यमेव ध्यान करना

चाहिये जैसे कि —आहार १ आचार २ और व्यवहार ३ जिनका संक्षेप से नीचे वर्णन किया जाता है।

१ **आहार शुद्धि** —सद्गृहस्थ को योग्य है कि वह अपने आहार में विशेषतया सावधानी रक्खें क्योंकि आहार के सूक्ष्म परमाणु रस रूप परिणत होते हुए पांचों इंद्रियाँ जैसे कि श्रुतेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेंद्रिय तथा मन, वचन काया व श्वासोश्वास वा आयुष्कर्म पर अपना प्रभाव डालते हैं। यदि सतोगुणी भोजन किया गया है तब उक्त प्राणों को वे परमाणु शान्त रस के प्रदान करने वाले बनजाते हैं। जिस प्रकार उष्णता से पीडित पुरुष ने जब स्नान कर लिया तब जल के परमाणु उसको शात रस प्रदान करने वाले बनजाते हैं। यदि उसने अपनी उक्त ही दशा में मदिरा पान ही कर लिया तब वे परमाणु तमोगुण के उत्पादन करने वाले बन जाते हैं जिससे किसी २ समय में तो किसी २ पुरुष को अपने उक्त कथन किये गए १० प्राणों से ही हाथ धोने पडते हैं।

अतएव शरीर रक्षा के लिये भोजन बिना सावधानी से न होना चाहिये और साथ ही तमोगुणी भोजन वा रजोगुणी भोजन सद्गृहस्थ को कदापि सेवन न करना चाहिये।

कारण कि तमोगुणी भोजन से वा रजोगुणी भोजन से आत्मा सद्गुणों से विमुक्त होता हुआ विकार भाव को

प्राप्त हो जाता है। जिससे उसकी पाप वृत्तियां विशेष बढ जाती हैं। जैसे कि क्रोध मान माया और लोभ, राग द्वेष, क्लेश, निंदा, चुगली और छल, झूट इत्यादि वृत्तियों के बढ जाने से फिर वह जीव अपनी उन्नति के स्थानपर अवनति कर बैठता है।

अतएव तमोगुणी या रजोगुणी भोजन सद्गृहस्थों को कदापि न करना चाहिये।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सतोगुणी वा रजोगुणी या तमोगुणी भोजन की परिक्षा क्या है? इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि स्वच्छ, शुद्ध और मन या इंद्रियों को प्रसन्न करने वाला प्राय स्निग्ध और उष्ण गुणों से युक्त जैसे मर्यादानुकुल और शीघ्र पाचक गुणवाला वा घृतादि का सेवन है इसे सतोगुणी भोजन कहा जाता है। परतु चलित रस अस्वच्छ और अशुद्ध, अत्यत तीक्ष्णादि गुणों से युक्त वा शीत रूक्षादि गुणों से युक्त इत्यादि भोजन तमोगुणी होता है। दोनों की मध्यम वृत्ति वाला भोजन रजोगुणी होता है। इसमें कोई भी सदेह नहीं है कि जिस प्रकार प्राय असद्पुरुष दूसरे की निंदा और चुगली आदि क्रियाओं के करने से बडे प्रसन्न होते हैं उसी प्रकार रजोगुणी भोजन वा तमोगुणी भोजन करते समय तो बडा प्रिय लगता है परतु जिस प्रकार निंदादि कियाओं का अतिम फल दु ख-प्रद ही निकलता है ठीक उसी प्रकार तमोगुणी या

रजोगुणी आदि भोजन करने का फल भी रस विकार होने से सुख-प्रद नहीं होता।

अतएव सद्गृहस्थों को उक्त प्रकार के भोजनों से सदैव बचना चाहिये और साथ ही जो मादक द्रव्य हैं उनका भी सेवन न करना चाहिये जैसे कि मदिरा पान, अफीम, भाग, चरस, सुल्फा, गाजा, तमाखू, सिगरेट इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जिन पदार्थों के सेवन से बुद्धि में विप्लव पैदा होता है और सदाचार की दशा बिगडती हो तो इस प्रकार के पदार्थों को कदापि सेवन न करने चाहिये।

२ आचार शुद्धि—जब आहार की शुद्धि भली प्रकार से होजाय तो फिर आचरण की शुद्धि भी भली प्रकार की जासक्ती है जैसे कि—आचरण शुद्धि मे प्रथम सात व्यसनो का परित्याग कर देना चाहिये क्योंकि उनके सेवन से परम कष्ट और धर्म से पराङ्मुख होना पडता है। जिस प्रकार साप से कौतुहल या उपहासादि किया हुआ कभी भी सुख प्रद नहीं होता, ठीक उसी प्रकार सात व्यसन सेवन किये हुए सुखप्रद नहीं होते।

तथा जिस प्रकार सम्राट का अविनय किया हुआ शीघ्र ही अशुभ फल देने मे उपस्थित होजाता है ठीक उसी प्रकार सात व्यसन भी सेवन किये हुए शीघ्र ही विपत्तियों का मुह दिखलाते हैं। अत सद्गृहस्थ इन्हें कदापि सेवन न करें।

उनके नाम ये हैं जैसे कि'—जुआ, मास, मदिरा, आखेट कर्म (शिकार) वेश्या संग, परस्त्री सेवन और चौर्य्य कर्म। इनका फल प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो ही रहा है। अतएव इनका सविस्तृत स्वरूप नहीं लिखा, किंतु इतना हम लिख देना उचित समझते हैं कि प्रथम व्यसन के अन्तर्गत (सट्टाभी है) सब ही व्यसन आजाते हैं। जो इस व्यसन मे पड़गए हैं वे भी प्रायः अपनी स्वकीय लक्ष्मी को खोकर निर्धन दशा को प्राप्त होगए हैं जिससे वे नाना प्रकार के कष्टो का अब मुह देख रहे हैं।

यदि कल्पना भी करले कि कोई व्यक्ति उक्त क्रिया मे कुछ समय के लिये लक्ष्मीपति बन भी गया तो उसकी वह विभूति चिरस्थायी नहीं रह सक्ती। जिस प्रकार यदि थोडी २ बूंदें किसी खेत (क्षेत्र) में पडती हों तो वे बूद खेती की वृद्धि मे अमृत के समान काम करती हैं किंतु यदि उसी खेत में परिमाण से अधिक वर्षा पडती हो और साथ ही किसी नदी की वर्षा अधिक होने के कारण से बाढ आजाय तो वह बाढ खेती का नाश करती हुई जो उस खेत में कोई अन्य जाति के वृक्ष हों तो उनको भी हानि पहुचाती है।

तथा यदि वही बाढ नगर की ओर आजाय तो नागरिक लोग परम दु खित होते हैं और उस बाढ के द्वारा नागरिक लोगों के प्रासादि (घर) स्थान, धन और माल सब अव्यवाहित होजाता है। इतना ही नहीं किंतु खांडादि पदार्थों मे जल प्रवेश किया आ बहुत सी हानि करजाता है।

सो जिस प्रकार अधिक वर्षा या बाढ के कारण से लोग दु:खों से पीडित होजाते हैं ठीक उसी प्रकार सट्टा आदि के व्यापार में लक्ष्मी की वृद्धि की यही दशा होती है।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि खेत में पडी हुई बूंदों के समान थाडा भी व्यापार लक्ष्मी की वृद्धि कर देता है किंतु बाढ के समान काय करनेवाले सट्टादि के द्वारा लक्ष्मी की वृद्धि की इच्छा कभी भी न करनी चाहिये।

क्योंकि उसकी वृद्धि का फल उक्त दृष्टांत द्वारा विचार सकते हैं। तथा इस बात को भली प्रकार विचार सके हैं कि जब आचार शुद्धि भली प्रकार से हो जायगी तब फिर व्यवहार (व्यापार) शुद्धि भी की जासकेगी।

क्योंकि व्यापार शुद्धि के मूल कारणीभूत आहार शुद्धि वा आचार शुद्धि कथन की गई है —

व्यापार शुद्धि —व्यापार-शुद्धि का सम्बन्ध प्रथम दोनों शुद्धिया के साथ हैं और उक्त दोनों शुद्धियों का संबंध व्यापार शुद्धि के साथ है। अत इन तीनों का परस्पर आश्रय सम्बन्ध है सो जिस व्यापार से महत् कर्मों का बंध पडता हो और वह व्यापार अनार्य भावों की सीमा तक पहुचता हो वह व्यापार सद्गृहस्थ को कदापि न करना चाहिये।

क्योंकि जब यह शरीर ही क्षण-विनश्वर है तो भला फिर क्यों इसकी रक्षा के लिये [illegible] द्वारा इसकी

सो आर्य व्यापारों द्वारा भी इसकी भली प्रकार से रक्षा की जा सकती है। अब प्रश्न इसमें यह उपस्थित होता है कि वे अनार्य व्यापार कौन कौन से हैं जिनसे बचने का उपाय किया जाय। इस प्रकार की शंका के उत्तर में कहा जा सक्ता है कि इस प्रकार के अनेक व्यापार हैं जैसे कि — मास का बेचना, मदिरा का बेचना, मादक द्रव्योंका बेचना, चमडे का व्यापार करना, दांतों का व्यापार करना, दांतों के आभूषण बनाकर बेचना, कन्या विक्रय करना, विश्वासघात करना, इत्यादि अनेक प्रकार के व्यापार हैं जो गृहस्थोंके लिये करने अयोग्य हैं। इनका पूर्ण विवरण इसी पुस्तक के चतुर्थ भाग में प्रतिपादन किये हुए श्रावक के १२ व्रतों का स्वरूप भली प्रकार जानना चाहिये और उन्हीं व्रतों के अन्तर्गत सातवा जो उपभोग परिभोग व्रत है उसे सावधानी से पढ़ना चाहिये।

क्योंकि उसी व्रत में आहारशुद्धि और व्यापारशुद्धि का भली भांति वर्णन किया गया है। १५ कर्मादान का गृहस्थों के लिये निषेध किया गया है।

साथमें यह भी विचार अन्त करण में उत्पादन करना चाहिये कि जो लक्ष्मी अन्याय से वृद्धि पाती है उसकी स्थिरता चिरस्थायी नहीं होती और न उसका प्रकाश चिरस्थायी होता है जैसे कि, जब दीपक शांत होने को आता

है तब यह पहिले ही डावाडोल होने लग जाता है किंतु जब वह बुझने लगता है तब बुझने से पहिले एक बार तो प्रकाश भली प्रकार कर देता है तदनु शांत होजाता है।

ठीक इसी प्रकार जो लक्ष्मी अन्याय से उत्पादन की जाती है उसका भी प्रकाश तद्वत् ही जानना चाहिये।

अतएव अन्यायसे लक्ष्मी कभी भी उत्पादन न करना चाहिये। जब यह आत्मा उक्त तीनों शुद्धियों से विभूषित हो जायगा तब वह लौकिक पक्ष में सदाचारी कहलाने लग जायगा।

इसी कारण से द्रव्यात्मा को चारित्रात्मा भी कहा जाता है क्योंकि आत्मा के आत्म प्रदेश जब सम्यग्चारित्र म प्रविष्ट होजाते हैं तब यह आत्मा चारित्रात्मा बन जाता है। जब वे प्रदेश मिथ्याचरण में प्रविष्ट होते हैं तब उस आत्मा को मिथ्याचारिणी (कदाचारी) कहाजाता है।

सो सिद्धांत यह निकला कि उपाधिभेद से द्रव्यात्मा चारित्रात्मा भी हो जाता है।

पाठ छट्ठा ।
वलवीर्यात्मा ।

जिम प्रकार पूर्व पाठ में चारित्रात्मा का वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार इस पाठ में वल्वीर्यात्मा का वर्णन किया जाता है क्योंकि ज्ञात रहे कि आत्मद्रव्य के मुख्य उपयोग और वीर्य लक्षण ही शास्त्रकारोंने प्रतिपादन किये हैं ।

सो वल्वीर्यात्मा का आत्मभूत लक्षण है इसीसे योगादि की प्रवृत्ति सिध्द होती है और इसीसे आत्म स-क्रिय माना जाता है। अतरायकर्म के क्षय या क्षयोपशम से इसका विकाम होता है। फिर इसकी प्रवृत्ति योगों द्वारा प्रत्यक्ष देखने में आती है तथा ज्ञानादि में उपयोगशक्ति का व्यक्त करना भी इसीका काम है ।

दान देने की शक्ति १ लाभ उत्पादन करने की शक्ति २ उपभोग पदार्थों के भोगने की शक्ति ३ परिभोग की शक्ति ४ अपने वल के दिखाने की शक्ति ५ यह सब शक्तिया वल्वीर्य के सिरपर ही निर्भर हैं ।

तथा यावन्मात्र पांचों इद्रिया, मन, वचन और काय के योग, श्वासोश्वास आदि के प्रवृत्ति करने की शक्तिया सब इसी पर निर्भर हैं। अतएव वीर्य सम्पन्न होने से द्रव्यात्मा को वल-वीर्यात्मा भी कहा जाता है। तथा यावन्मात्र तेजसादि शरीर की शक्तिया हैं ——— वल्वीर्यात्मा ही है।

भसारी गाय-मात्र कार्य हो रहे हैं वे सर्व इसी आत्म के बल से हो रहे हैं। इसी प्रकार मात्र-मात्र धार्मिक क्रियाएं होरही हैं व भी इसी आत्मा के आधार पर होरही हैं।

इसी कारण से तीन प्रकार से पुरुषार्थ कथन किया गया है। जैसे कि —

१ पण्डित वीर्य —जिन क्रियाओं के करने से कर्म-मल दूर होजावें और आत्मिक गुण प्रकट होजाय उसी का पण्डितवीर्य कहते हैं।

जिस प्रकार क्षार और जल से कोई पुरुष मलयुक्त वस्त्र को धो रहा हो तब उसकी क्रिया का अंतिम फल यह निकलता है कि उस वस्त्र से मल पृथक होकर वस्त्र फिर पवित्रता और शुद्धता को धारण करलेता है। तथा जिस प्रकार अग्नि द्वारा सुवर्ण शुद्ध किया जाता है वा अन्य क्रियाओं द्वारा भिन्न भिन्न पदार्थ शुद्ध किये जाते हैं ठीक उसी प्रकार आत्मा जो कर्म से युक्त होरहा है उसे तप, संयम तथा ध्यानादि क्रियाओं द्वारा शुद्ध करना सो उस पुरुषार्थ का नाम पण्डितवीर्य है।

२ बालवीर्य —जिन जिन क्रियाओं के द्वारा आत्मा कर्म बंधन में विशेष पड़ती हो और हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुनक्रिया वा परिग्रह में विशेष प्रवृत्ति करती हो सो उसी

का नाम बाल्वीर्य है। क्योंकि जिस प्रकार बालकों का परिश्रम या बाल क्रिडा किसी विशेष अर्थ के लिये नहीं होती ठीक उसी प्रकार बालवीर्य भी मोक्षसाधन नहीं बन सक्ता।

यद्यपि बालवीर्य द्वारा शत्रु हनन क्रिया, स्वकीय जय पर का पराजय करना, सांसारिक इष्ट सुखों का संपादन, अर्थ और काममें विशेष प्रवृत्ति और उसका यथोचित संपादन, नाना प्रकार के यन्त्रोंका आविष्कार। साम, दाम, दंड, भेदादि नीतियों में प्रवृत्ति इत्यादि सहस्रों क्रियाए की जाती हैं और उनकी सिद्धि के फलों का अनुभव भी किया जाता है परंतु वे क्रियाए मोक्ष साधन मे साधक नहीं बन सक्तीं। इसी कारण से उन्हें बाल्वीर्य कहा गया है।

तथा यावन्मात्र अधार्मिक क्रियाए हैं जैसे कि —धर्म, अर्थ और काम के लिये जीव हिंसा वा असत्यादि भाषण वे सब बलवीर्य में ही गिनी जाती हैं।

यही कारण है कि आत्मा अनादि कालचक्र में उक्त वीर्य के द्वारा ही परिभ्रमण करता चला आया है।

३ बालपंडित वीर्य –तृतीय वीर्य का नाम पंडितवीर्य है। इसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों बातें पाई जाती हैं। क्योंकि इस गुण वाला आत्मा अर्थ, काम के सेवनके समय साथ ही धर्म किये जाता है।

मुनिवृत्ति या नहीं कही जाती तथापि उसकी भमार में रहते हुए भी सर्वथा असमय वृत्ति भी नहीं है अतः उनके परिश्रम का नाम " बाल पंडित वीर्य " है। क्योंकि जिस प्रकार वह सांसारिक कार्यों में भाग लेरहा है यदि उससे अधिक वा उसके तुल्य नहीं तो कमही सही कुछ भाग धार्मिक कार्यों में भी ले ही रहा है। इसी कारण से श्री भगवान् ने भी उस गृहस्थ की सुदर्शन आमणा प्रतिपादन की है।

श्रावक के द्वादश व्रत वा ११ उपासक की प्रतिमाएं इत्यादि नियमों को यथाशक्ति पालन किये जारहा है।

इसी वास्ते उसके परिश्रम का नाम बालपंडितवीर्य है। उक्त कथन से यह स्वतः ही सिद्ध होगया कि द्रव्यात्मा का नाम बलवीर्यात्मा युक्ति युक्त है।

जिस प्रकार उपाधि भेद से आत्मद्रव्य के आठ भेद वर्णन किये गये हैं, ठीक उसी प्रकार कर्मों की अपेक्षा से और जीव के पारिणामिक भाव होने से औदयिक, औपशमिक, क्षायिक क्षयोपशमिक, और पारिणामिक भाव भी जीव द्रव्य के कथन किये गए हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त भावों का जीव द्रव्य के साथ क्या सम्बन्ध है और ये भाव जीव के किस प्रकार सम्बन्धी कहे जाते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि जीव का किसी नय

की अपेक्षा से पारिणामिक स्वभाव होने से वह उक्त भावों मे परिणत होता रहताही है ।

जिस प्रकार घृत जिस वर्ण वा गधादि में प्रविष्ट होजाय फिर वह उसी वर्णादि के रूप को धारण करने वाला बन जाता है । तथा जिस प्रकार निर्मल दर्पण में जिस रग का दोरा (सूत) दिखाया जाता है फिर उस दर्पण में उसी रग का चित्र आ पडता है ।

ठीक इसी प्रकार चैतन्यद्रव्य भी कर्मों की सगति से जिस प्रकार के कर्मों का उदय होता है प्राय उसी प्रकार से उसमें पारणत होजाता है ।

जैसे मादक द्रव्यों के भक्षण से जीव मदयुक्त हो जाता है वा जिस प्रकार मदिरादि के पान करने से जीव मूर्च्छा में प्रविष्ट हो जाता है । इसी प्रकार पारिणामिक स्वभाववाला होने से जीव भी जीव-परिणाम में परिणत होता रहता है । यदि जीव औदयिक भाव की अपेक्षा से देखाजाय तो इस के आठों कर्मों का सदैव उदय रहता है ।

इसी कारण से वह नरक, तिर्यग्, मनुष्य और देव आदि गति में वा कषायादि में परिणत हो ही रहा है । औपशमिक भाव के द्वारा इनकी कषाएँ (क्रोध, मान, माया और लोभ) और औपशमिक सम्यक्त्व आदि गुण उत्पन्न होते रहते हैं ।

किंतु जब आत्मा ये आठ ही कर्म क्षय हो जाते हैं तब आत्मा का क्षायिक भाव प्रकाशित हो जाता है जिसके कारण से आत्मा सिद्ध गति की प्राप्ति कर लेता है।

क्षायोपशमिक भाव के द्वारा आत्मा में मतिज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्यव ज्ञान तथा मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान तथा विभगअज्ञान, इसी प्रकार दानलब्धि, लाभ लब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि, तथा बलवीर्य की लब्धि की प्राप्ति हो जाती है।

क्योंकि यावन्मात्र आत्मिक गुणों का प्रादुर्भूत होना है वे सब क्षायोपशमिक भाव द्वारा आत्मा क्रम से उन्नति के शिखर पर चढता हुआ क्षायिक भाव की सीमा तक पहुंच जाता है। ठीक उसी प्रकार पारिणामिक भाव में भव्य पारिणामिक अभव्य पारिणामिक और जीव पारिणामिक इन तीनों परिणामों में स्वभावता से अनादि काल से परिणत हो रहा है।

अब इस स्थल पर यह शंका उत्पन्न की जासक्ती है कि भव्य पारिणामिक और अभव्य पारिणामिक और जीव पारिणामिक किसे कहते हैं।

इसके उत्तर में कहा जा सक्ता है कि अनादि काल से और स्वभाव से ही जीवों का दो प्रकार का स्वभाव प्रतिपादन किया है।

भव्य पारिणामिक — जिन आत्माओं का मुक्ति गमन का स्वभाव है। परन्तु ऐसे न समझना चाहिये। सब भव्य आत्मा भव्य स्वभावता के ही कारण से मोक्ष हो जायँगे। किंतु जिन भव्य आत्माओं को काल, स्वभाव, नियति कर्म और पुरुषार्थ ये पाच समवाय मिलेंगे वेही मोक्ष के साधक बनेंगे।

जैसे कल्पना करो कि एक शुद्ध बीज है और उसका अकुर वा फल देने का स्वभाव भी है परन्तु जब तक उसको भी खेत [क्षेत्र] में बीज बोने (वपने) का समय नियति कर्म और पुरुषार्थ ये चारों समवाय सम्यगतया न मिल जावें तब तक वह शुद्ध बीज भी अकुर वा फल देने में असमर्थ है। ठीक उसी प्रकार भव्य स्वभाव वाले जीव को जबतक काल नियति कर्म और पुरुषार्थ रूप चारों समवाय न मिलें तब तक वह भी मोक्ष साधक की क्रियाओं में अपनी असमर्थता रखता है।

दूसरे स्वभाव के धारक जीव इस प्रकार के होते हैं कि यदि उन आत्माओ को उक्त समवायों में से कुछ समवाय मिल भी जायँ परन्तु उनका स्वभाव मोक्ष साधक नहीं है अत वे उन समवायों की उपेक्षा ही कर लेते हैं। जैसे कि ठीक प्रकार से वर्षादि का समय यदि उपस्थित भी हो जावे तथापि दग्ध बीजादि के होने से कृषि लोग उस काल की उपेक्षा ही कर लेते हैं।

तथा जिस प्रकार अग्नि और पानी का यथावत् संयोग मिल जाने पर भी यदि मूंगादि में कोकडु आदि बीज हैं तो वे उस संयोग के मिल जाने पर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। ठीक उसी प्रकार यदि अभव्य आत्माओं को सम्यगतया कालादि का संयोग भी उपलब्ध हो जावे तो फिर भी वे स्वस्वभाव मोक्ष साधन का न होने से मोक्ष के साधक नहीं बन सके।

तृतीय जीव संज्ञक पारिणामिक द्रव्य है जैसे कि मुक्त आत्मा। क्योंकि मुक्तात्माओं को भव्य संज्ञक भी नहीं कह सके क्योंकि भव्य मुक्ति जाने वाले आत्मा की संज्ञा है सो वे तो निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं अतः वे भव्य संज्ञक तो कहे नहीं जाते।

तथा नहीं वे अभव्य संज्ञक हैं क्योंकि अभव्य वे हैं जो मुक्ति गमन की योग्यता ही नहीं रखते। अतएव अभव्य संज्ञक भी नहीं हैं जब दोनों संज्ञाओं से वे पृथक् होगए तब उनकी केवल जीव संज्ञा ही बनी रही।

सो इस कथन का निष्कर्ष यह निकला कि कर्मों के होने से ही इस आत्मा के उपाधि भेद कारण से इस आत्मा की अनेक प्रकार व्याख्या की जासक्ती है।

परन्तु स्मृति रहे बलवीर्य यह आत्मा का निज गुण है इसलिये इसकी अपेक्षा से द्रव्यात्मा को वीर्यात्मा भी कहा

जा सक्ता है। साथ में इस बात का भी ध्यान कर लेना चाहिये कि जो मुक्तात्माएं हैं उनकी द्रव्यात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा उपयोगात्मा ये चार आत्माएं तो सदैव रहती ही हैं परंतु अनंत बलवीर्यात्मा शक्ति रूप से तो विद्यमान है व्यावहारिक क्रियारूप से नहीं। क्योंकि व्यावहारिक क्रियाओं से वे पृथक् होकर केवल सम्यक्त्वादि अंतरंग क्रियाओं से ही सर्वदा युक्त रहती हैं। कषायात्मा और योगात्मा से तो वे सर्वदा ही भिन्न पृथक् रहती हैं और न उनमें द्रव्य चारित्रात्मा ही है—।

किंतु अनंत ज्ञानादि की शक्ति संपन्न हैं अतः इस प्रकार बलवीर्यात्मा की व्याख्या की गई है।

पाठ सातवां।

जीव।

कर्मों से यह जीव कर्मों के कारण से नाना प्रकार की गतियों में परिभ्रमण कर रहा है ।

जिसप्रकार द्रव्य का अभिलाषी नाटकिया द्रव्य का अभिलाषी होकर नाना प्रकार के नाच (खेल) करता है ठीक उसी प्रकार जीव भी सासारिक सुखों का अभिलाषी होकर नाना प्रकार के कर्म करता है। फिर उन्हीं कर्मों के वश होकर नाना प्रकार की योनियों में परिभ्रमण करने लग जाता है।

कारण कि कर्म तो इसलिये किये थे कि मुझे सुख हो जायगा परन्तु उन्हीं कर्मों ने इस प्रकार से जीव को जकड़ा कि उसका अब छूटना ही कठिन होगया। जिसके कारण से जीव को नाना प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ा और नाना प्रकार की गतियों में गमना गमन करना पड़ा।

प्रश्न —गतियां कितने प्रकार से वर्णन की गई हैं ?

उत्तर —चार प्रकार से ।

प्रश्न —वे कौन २ सी हैं ?

उत्तर —नरक गति, तिर्यग् गति, मनुष्य गति, और देव गति ।

प्रश्न —नरक गति किसे कहते हैं ?

उत्तर —जिस स्थान में परम दु:ख हो उसी का नाम नरक स्थान है परन्तु नीचे लोक में नरक स्थान है जहां पर असंख्यात नारकीय जीव निवास करते हैं।

प्रश्न —संख्या में कितने नरक स्थान हैं ?

उत्तर —सात।

प्रश्न —उनके नाम क्या हैं ?

उत्तर —सुनिये! जैसे कि घम्मा १ वशा २ शेला ३ अंजना ४ रिष्टा ५ मघा ६ माघवती ७।

प्रश्न —इन सात नरकों के गोत्र कौन २ से हैं ?

उत्तर —सात ही नरकों के सात ही गोत्र हैं। रत्नप्रभा १ शर्करप्रभा २ बालुप्रभा ३ पंकप्रभा ४ धूम प्रभा ५ तम प्रभा ६ तमतमाप्रभा ७।

प्रश्न —वास्तव में नरकों के भेद कितने हैं ?

उत्तर —वास्तव में सात नरकों के १४ भेद हैं। जैसे कि उक्त सात नरकों के जीव पर्याप्त और अपर्याप्त।

प्रश्न —पर्याप्त किसे कहते हैं ?

उत्तर —जिस समय जीव नरक गति में जाकर उत्पन्न होता है उस समय वह षट पदार्थ सम्पूर्ण (पर्याप्त) करता है। जैसे कि आहार पर्याप्त १ शरीर पर्याप्त २ इन्द्रिय पर्याप्त ३ श्वासोच्छ्वास पर्याप्त ४ मन पर्याप्त ५ और भाषा पर्याप्त ६। जिस समय यह छ पदार्थ अपूर्ण दशा में होते हैं उस समय जीव को अपर्याप्त दशा में कहा जाता है परन्तु जिस समय उक्त छ हीं पदार्थ सम्पूर्ण दशा में हो जाते हैं तब जीव को पर्याप्त कहा जाता है। सो उक्त प्रकार से नारकीय जीवों के १४ भेद कहे जाते हैं।

प्रश्न —तिर्यग् गति किसे कहते हैं?

उत्तर —जिस गति में जीव नाना प्रकार के दु खों का अनुभव करता रहे और टेढा होकर गमन करे इतनाही नहीं किंतु प्राय, अपनी आयु विकल भावों में ही पूरी करे।

प्रश्न —तिर्यग् गति में रहने वाले जीवों के कितने भेद हैं?

उत्तर —यद्यपि तिर्यग् गति के रहने वाले जीवों के अनेक भेद वर्णन किये हैं तथापि मुख्य भेद उक्त गति म रहनेवाले जीवों के ४८ वर्णन किये गए हैं।

प्रश्न —वे भेद कौन २ से हैं।

उत्तर —जैसे कि तिर्यग् गति के जीवों की गणनाएं एकेन्द्रिय जीव से लेकर पचेंद्रिय जीव तक है सो एकेन्द्रिय जीवों के भेद इस प्रकार से वर्णन किये गए हैं जैसे कि —पृथ्वी काय के चार भेद सूक्ष्म १ वादर २ पर्याप्त ३ और अपर्याप्त ४ इसी प्रकार अपकाय के जीव तेजो काय के जीव और वायु काय के जीव के विषय में [illegible] जानना चाहिये।

परतु वनस्पतिकाय के छ भेद जानना चाहिये। [illegible] कि —सूक्ष्म १ साधारण २ प्रत्येक ३ फिर तीनों [illegible] तीनों अपर्याप्त इस प्रकार वनस्पति काय के छ [illegible] चाहिये। यदि ऐसा कहा जाय कि सूक्ष्म, [illegible] प्रत्येक तथा वादर किसे कहते हैं ? तो इस [illegible] में कहाजाता है कि उक्त पाचों ही स्थावर [illegible] रूप से सर्वत्र व्याप्त होरहे हैं अतः [illegible] स्थान नहीं है जहा पर पाचो स्थावर [illegible] परतु वे केवली भगवान के दृष्टि गोचर [illegible]

जीव जो वनस्पति रूप हैं उनके मुख्यतया दो भेद ही प्रतिपादन किये गए हैं। जैसे कि—प्रत्येक और साधारण जो प्रत्येक उसे कहते हैं जिसमें पृथक् २ शरीर में पृथक् २ जीव हों और साधारण उसका नाम है जिसके एक शरीर में अनन्त जीव हों।

जैसे कन्द मूलादि—जैसे कि आलू अदरक, मूली आदि कन्द मूल हैं ये सर्व अनन्त काय के धरनेवाले ही हैं।

परन्तु जो द्वीन्द्रिय १ त्रीन्द्रिय २ चतुरिन्द्रिय ३ ये तीन प्रकार के विकलेन्द्रिय तिर्यग् जीव हैं। इनके केवल पर्याप्त और अपर्याप्त इस प्रकार के भेद किये जाने पर ६ भेद हो जाते हैं।

किन्तु पंचेन्द्रिय तिर्यग् जीवों के २० भेद इस प्रकार से वर्णन किए गए हैं जैसे कि—जलचर, स्थलचर २ खचर ३ उरपुर ४ और भुजपर ५।

सो ये पांचों प्रकार के तिर्यग् गर्भ से भी उत्पन्न होते हैं और समुच्छिम भी होते हैं।

स्मृति रहे कि गर्भ से उत्पन्न होने वाले अण्डकादि से जन्म धारण करते हैं अपितु जो समुच्छिम हैं वे बिना गर्भ के केवल बाहिर के निमित्तों के मिल जाने से ही उत्पन्न हो जाते हैं।

इन दोनों में केवल विशेषता यही रहती है कि जो गर्भ से उत्पन्न होते हैं उनके मन होता है और जो विना गर्भ के केवल समुर्च्छिम (स्वयमेव) उत्पन्न हुए हैं उनके मन नहीं होता। इसीलिये मनवालों की सञ्ज्ञा सञ्ज्ञी और जो विना मन के हैं उनकी सञ्ज्ञा असञ्ज्ञी इस प्रकार से व्यवहृत कीगई है।

जब इनकी उक्त प्रकार से सञ्ज्ञा होगई तब इनके दस भेद भी होगए। जैसे कि —पाच सञ्ज्ञी तिर्यग् और पाच असञ्ज्ञी तिर्यग् फिर पाच ही पर्याप्त और पाच ही अपर्याप्त इस प्रकार सर्व भेद एकत्र करने से २० होगए।

इस प्रकार उपरोक्त २२ भेद एकन्द्रियों के और ६ भेद विकलेन्द्रियों के और २० भेद पचेंद्रिय तिर्यगों के एकत्र करने से सर्व भेद ४८ हो जाते हैं।

यह सर्व व्यवहार नय के आश्रित होकर ही उक्त भेद वर्णन किये गए हैं।

फिर इसी नय के आश्रित होकर जलचर जीवा के अनेक भेद होने पर भी सुगम बोध कराने के लिये मच्छ, मच्छ (मत्स्य) गाहा, मकर, और सुसमार इस प्रकार भी भेद बतलाये गए हैं।

जिस प्रकार जलचरों के कुछ भेद वर्णन किये गए हैं ठीक उसी प्रकार एक खुर, दो खुर, गंडीपद (हाथी का पाद) और सेही पद (जैसे सिंहादि का पाद) स्थलचरों के भेद वर्णन किये गए हैं।

चर्मपक्षी, लोमपक्षी, समुद्गपक्षी, और विततपक्षी ये भेद खेचरों के वर्णन किये गए हैं।

अहि, अजगर, महोरग, असालिका, इत्यादि उरपुर सर्पों के भेद हैं। गोह, नकुल, गिलहरी इत्यादि भुजपर सर्पों के भेद हैं। यद्यपि उक्त जीवों की लाखों योनियें हैं तथापि तिर्यग् योनि शब्द एक ही है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त तिर्यग् योनि में जीव उत्पन्न क्यों होता है ? इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि जीव अपने किये हुए कर्मों के प्रयोग से ही उत्पन्न होते हैं किंतु किसी अन्य आत्माओं की प्रेरणा से उत्पन्न नहीं होते।

जब आत्मा कर्म करता है तब उन कर्मों के *निमित्त* का भी धारता है। जिस प्रकार बिना बादलों के वर्षा नहीं हो सकती ठीक उसी प्रकार बिना *निमित्तों* के मिले कर्मों का फल भी नहीं भोगा जा सकता।

प्रश्नः—जब आत्मा मनुष्य गति में आता है तब किस प्रकार से आता है ?

उत्तर—प्रकृति से भद्रता, विनीतता, आर्जव, और अमत्सरतादि गुणों से जब जीव युक्त होता है तब आत्मा मनुष्य गति में आता है।

प्रश्न—मनुष्य गति के कितने भेद हैं ?

उत्तरः—संग्रह नय के मत से तो केवल मनुष्य जाति का एक ही भेद है। परन्तु व्यवहार नय के मत मे ३०३ भेद प्रतिपादन किये गए हैं जैसे कि—कर्म-भूमिक मनुष्य, अकर्म-भूमिक मनुष्य और अंतर्द्वीपों के मनुष्य तथा समुर्च्छिम मनुष्य।

प्रश्न—कर्म-भूमिक मनुष्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो ७२ कलाए पुरुषों की ६४ कला स्त्रियों की १०० प्रकार की शिल्प कलाएँ जो इनके द्वारा अपना जीवन व्यतीत करते हों उन्हें ही कर्म भूमिक मनुष्य कहते हैं तथा जहा पर खड्ग विधि, लेखन विधि, वा कृषि कर्म द्वारा जीवन व्यतीत किया जा सके, उसीको कर्म-भूमि मनुष्य कहते हैं क्योंकि जब देश, धर्म, सुव्यवस्थित दशा पर हो जाता है तब कर्म-भूमिक मनुष्य अपने २ सुगृहीत कर्मों द्वारा जीवन व्यतीत करने लग जाते हैं।

प्रश्न —अकर्म-भूमिक मनुष्य किसे कहते हैं ?

उत्तर — जिस काल में खेती व्यापार न करनी पड़े केवल कल्पवृक्षों द्वारा ही अपना सुख पूर्वक जीवन व्यतीत किया जाय उस काल के उत्पन्न हुए मनुष्यों को अकर्म-भूमिक मनुष्य कहते हैं। कारण कि यह समय इस प्रकार से सुखरूप होता है कि उस काल के मनुष्य भी स्वर्गगामी होते हैं और अपना सुख पूर्वक समय व्यतीत करते हैं।

प्रश्न —अन्तर्द्वीपों के रहने वाले मनुष्य किस प्रकार के होते हैं ?

उत्तर —लवण समुद्र में ५६ अन्तर्द्वीप प्रतिपादन किये गए हैं उनमें भी अकर्म भूमिक (युगलिये) मनुष्य उत्पन्न होते हैं। वे अपना जीवन भी कल्पवृक्षों के आधार पर ही पूर्ण करते हैं फिर वे मरकर देवयोनि को ही प्राप्त हो जाते हैं। सो जल के अन्तर पर होने से ही उन्हें अन्तर्द्वीप कहा गया है। सो यदि मनुष्यलोक में सर्व क्षेत्रों की गणना की जाय तो पाच भरत, पाच ऐरवर्त, और पाच महाविदेह ये १५ क्षेत्र कर्म भूमियों के कहे जाते हैं किंतु पाच हैमवत, पाच हैरण्यवत, पाच हरिवर्ष, पाच रम्यक्वर्ष पाच देवकुरु और पाच उत्तरकुरु ये ३० क्षेत्र अकर्म-भूमियों के

कथन किये गए हैं और लवण समुद्र में एक रूपादि ५६ अन्तर्द्वीप भी मनुष्यों के ही क्षेत्र हैं। इस प्रकार सर्व एकत्र करने से १०१ मनुष्य क्षेत्र होते हैं। सो एक सौ एक पर्याप्त और एक सौ एक अपर्याप्त इस प्रकार करने से २०२ भेद मनुष्यों के होगए। फिर इन्हीं भेदों वाले मनुष्यों के अवयवों में जो समुर्च्छिम मनुष्य होते हैं अर्थात् एक सौ एक क्षेत्रों में समुर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सर्व एकत्र करने से ३०३ भेद मनुष्यों के प्रतिपादन किये गए हैं।

प्रश्न—समुर्च्छिम मनुष्य किस प्रकार से उत्पन्न होते हैं?

उत्तर—जो गर्भ से उत्पन्न हुए मनुष्य हैं उनके मल मूत्रादि में जो जीव उत्पन्न होते हैं उन जीवों की मनुष्य संज्ञा है अतः उन्हें समुर्च्छिम मनुष्य कहते हैं।

प्रश्न—मनुष्य के किन २ अवयवों में वे समुर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं?

उत्तर—मनुष्य के [१४] चतुर्दश अवयवों में वे समुच्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

प्र —वे ˆ २ से हैं?

उत्तर —वे भेद निम्न लिखितानुसार पढ़िये —

१ (उच्चारेसुवा) मलोत्सर्ग में (विष्टा में) २ (पासवणेसुवा) मूत्रमें ३ (खेलेसुवा) मुखके मल में ४ (सघाणेसुवा) नाक के मैल में ५ (वंतेसु वा) वमनमें ६ (पित्तेसु वा) पित्तमें ७ (पूएसु वा) पूत, राध में ८ (सोणिएसु वा) रुधिर में ९ (सुक्केसु वा) शुक्र (वीर्य) में १० (सुक्क पोग्गल परिसाडेसु वा) शुक्र पुद्गल के सड़जाने पर ११ (विगय जीव कलेवरेसु वा) मृतक के शरीर में १२ (इत्थीपुरिससंजोएसु वा) स्त्रीपुरुष के संयोग में १३ (णगर निद्ध वणेसु वा) नगर की खाई में अर्थात् नगर का खाल मल मूत्रादि के कारण से अति दुर्गंधमय होजाता है फिर उसमें समुर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति होने लगती है १४ (सवेसुचेव असुइठाणेसु वा) और सब अशुचि के स्थानों में समुर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न हो जाते हैं।

अतएव विवेकशील पुरुषों को योग्य है कि वे विना यत्नसे कोई भी क्रियाएँ न करें क्योंकि विना यत्नसे क्रियाएं की हुई पाप कर्म बंध और व्यवहार पक्ष में रोगों की उत्पत्ति का कारण बन जाती हैं।

इसलिये प्रत्येक क्रियाए सावधानता से की हुई दोनों लोक में शुभ फल की देने वाली होती हैं।

सो जिस प्रकार जीव मनुष्य गति म आता है ठीक उसी प्रकार जीव स्वकीय कर्मों के माहात्म्य से देवयोनि में भी चला जाता है।

प्रश्नः—देवयोनि कितने प्रकार से वर्णन की गई है ?

उत्तरः—चार प्रकार से।

प्रश्न —वे चार प्रकार की देवयोनि कौन कौनसी हैं ?

उत्तरः—भवनपति, वानव्यतर, ज्योतिषी और वैमानिक देव यही चार प्रकार की देवयोनी कथन की गई हैं क्योंकि उक्त चारों जातियों के देवों में जीव स्वस्वकर्मों के अनुसार उत्पन्न होते रहते हैं।

प्रश्न —उक्त देवों के उत्तर भेद कितने प्रकार से वर्णन किये गए हैं ?

उत्तर —उक्त प्रकार के देवों के उत्तर भेद १९८ प्रतिपादन किये गये हैं। जैसे कि — दस प्रकार के भवनपति देव हैं—यथा—असुर कुमार १ नाग कुमार २ सुवर्ण कुमार ३ विद्युत कुमार ४ अग्नि कुमार ५ द्वीप कुमार ६ उदधि कुमार ७ दिक् कुमार ८ पवन कुमार ९ स्तनित कुमार १०।

इसी प्रकार २६ प्रकार के वानव्यतर देव कथन किये गए हैं।

जैसे कि —पिशाच १ भूत २ यक्ष ३ राक्षस ४ किन्नर ५ किंपुरुष ६ महोरग ७ गान्धर्व ८ आणपन्नि ९ पानपन्नि १० इसिवाय ११ भूयवाय १२ कन्दी १३ महाक्न्दी १४ कुहंड १५ पयगवाह १६।

दस प्रकार के ज्योतिषी देव जैसे कि —

चन्द्र १ सूर्य २ ग्रह ३ नक्षत्र ४ और तारा ५ यह पाचही चर और पाच ही स्थिर क्योंकि अढाईद्वीप के भीतर (अभ्यंतर) चर हैं और अढाई द्वीप से बाहर स्थिर हैं।

दस प्रकार के तिर्यक् जृम्भक देव हैं — जैसे कि — अन्न जृम्भक १ पान जृम्भक २ लयन जृम्भक ३ शयन जृम्भक ४ वस्त्र जृम्भक ५ पुष्पजृम्भक ६ फल जृम्भक ७ पुष्प फल जृम्भक ८ बीज जृम्भक ९ आवती जृम्भक १०।

द्वादश कल्प देवलोक — जैसे कि —

सुधर्म देवलोक, १ ईशान देवलोक २ सनत्कुमार देवलोक ३ माहेंद्र देवलोक ४ ब्रह्मदेवलोक, ५ लांतक देवलोक ६ महाशुक्र देवलोक ७ सहस्रार देवलोक ८ आनत् देवलोक ९ प्राणत् देवलोक १० आरण्य देवलोक ११ अच्युत् देवलोक १२।

नवग्रैवेयक देवलोक जैसे —

भद्र १ सुभद्र २ सुजात ३ सौमनस्य ४ प्रियदर्शन ५ सुदर्शन ६ अमोघ ७ सुप्रतिबद्ध ८ यशोधर ९

पांच अनुत्तर विमान —

विजय १ वैजयन्त २ जयन्त ३ अपराजित ४ और सर्वार्थसिद्ध ५।

नव लोकान्तिक देव — सारस्वत १ आदित्य २ वृष्णी ३ वारुणी ४ गर्धतोय ५ तुषिता ६ अव्याबाध ७ आग्नेय ८ और रिष्ट ९।

तीन प्रकार के किल्विषिक देव —

१ तीन पल्योपम की आयु वाले किल्विषी देव ज्योतिषी देवों के ऊपर हैं परन्तु प्रथम द्वितीय स्वर्ग के नीचे हैं २ तीन सागरोपम की आयु वाले किल्विषी देव प्रथम द्वितीय स्वर्ग के ऊपर हैं किंतु तृतीय और चतुर्थ स्वर्ग के नीचे हैं। ३ त्रयोदश सागर की स्थिति वाले किल्विषी देव पांचवें स्वर्ग के ऊपर हैं और छठे स्वर्ग के नीचे हैं।

१५ जाति के परमाधामी देव जैसे कि —

अम्ब १ अम्बरस २ साम ३ शबल ४ रौद्र ५ विरौद्र ६ काल ७ महाकाल ८ असिपत्र ९ धनुष्पत्र १० कुम्भी ११ वालु १२ वैतरण १३ खरस्वर १४ महाघोष १५

ये सब ९९ प्रकार के देव पर्याप्त और अपर्याप्त का दो भेद करने से देवों के सर्व भेद १९८ हुए।

सो उक्त कथन किये हुए सर्व स्थानों में जीव स्व स्वकर्मों के अनुसार उत्पन्न होते रहते हैं।

यद्यपि प्रस्तुत प्रकरण जीव तत्व के विषय में बतलाया था तथापि अनादि संसारचक्र में नाना प्रकार की योनियों में जीव अपने २ कर्मों के अनुसार परिभ्रमण कर रहा है, अत उन स्थानों का केवल संक्षेप मात्र से दिग्दर्शन कराया गया है।

परन्तु जिस समय आत्मा नूतन कर्मों का सम्वर द्वारा निरोध करता है तब प्राचीन जो कर्म किये हुए होते हैं उनको स्वाध्याय वा तप द्वारा क्षय कर देता है। जब सब प्रकार के कर्म बंधन से आत्मा विमुक्त होजाता है तब फिर वह निर्वाण पद की प्राप्ति करता है।

यदि ऐसा कहा जाय कि जब आत्मा निर्वाण पद प्राप्त कर लेने पर भी सक्रिय है तो फिर वहां पर कर्मों का बंध क्यों नहीं करता ? इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि — वह सक्रियता आत्मिक गुणों के आश्रित है किंतु कषायात्मा वा योगात्मा के आश्रित नहीं है इसलिये वह कर्मों का बंध नहीं कर सक्ती। क्योंकि उस क्रिया की साधन सामग्री

आत्मोंनों के पास विद्यमान नहीं है। जिस प्रकार एक पूर्ण विद्वान पुरुष है और लेखक भी अद्वितीय है परन्तु मसी पात्र या लेखनी तथा पत्र उसके पास नहीं है तो भला फिर वह किस प्रकार समर्थ विद्वान होने पर भी पत्र लिख सक्ता है? अपितु नहीं लिख सक्ता। ठीक इसी प्रकार योगात्मा वा कषायात्मा के न होने से मोक्षात्मा सन्निधत्व होने पर भी कर्मों का बंध नहीं करता। जिस प्रकार लेखन सामग्री के न होने से पत्र नहीं लिख सक्ता किंतु लेखक क्रिया उसमें विद्यमान रहती है तद्वत् मोक्षात्मा विषय जानना चाहिये।

पाठ आठवाँ।

अजीव तत्व।

पक्ष प्रतिपक्ष रूप धर्म प्रत्येक पदार्थ में पाया जाता है। इसी न्याय के आश्रित होकर तत्वों की संख्या गिनी जाती है।

प्रश्न—तत्व किसे कहते हैं?

उत्तर—वस्तु के वास्तविक स्वरूप को तत्व कहते हैं।

प्रश्न—तत्व कितने प्रकार से वर्णन किये गए हैं?

उत्तर—नव [९] प्रकार से।

भेद १० होगए। उक्त चारों द्रव्यों के निम्न लिखितानुसार २० भेद इस प्रकार गिने जाते हैं जैसे कि —

धर्मास्तिकाय के ५ भेदः—द्रव्य से एक १ क्षेत्र से लोक परिणाम २ काल से अनादि ३ भावसे अवर्ण, अगन्ध, अरस, अरूपी ४ गुण से चलन गुण स्वभाव (गति लक्षण)। जिस प्रकार धर्मास्तिकाय के ५ भेद कथन किये गए हैं ठीक उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के भी ५ भेद जानना चाहिये। केवल गुण में विशेषता है जैसे कि —स्थिर गुण स्वभाव।

जिस प्रकार अधर्मास्तिकाय का विवरण है उसी प्रकार आकाशास्तिकाय का वर्णन है केवल आकाशास्तिकाय के गुण में इतना विशेष है कि वह अवकाश गुण का देने वाला है।

जिस प्रकार आकाशास्तिकाय के विषय का वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार काल द्रव्य का भी वर्णन है किंतु विशेषता इसी बात की है कि उसका वर्तना लक्षणस्वभाव है।

साथ में इस बात का भी विचार रखना चाहिये कि क्षेत्र में आकाश द्रव्य लोकालोक परिमाण है और काल द्रव्य क्षेत्र से समय क्षेत्र परिमाण है।

इस प्रकार सर्व भेद अरूपी अजीव तत्व के ३० हो गए।

प्रश्न—रूपी अजीव तत्व किसे कहते हैं ?

उत्तर—पुद्गल द्रव्य को—क्योंकि पुद्गल शब्द का यही अर्थ है कि जिसके परमाणुओंके मिलने और बिछुरने का स्वभाव हो तथा सयोग और वियोग के धरने वाला हो तथा यावन्मात्र पदार्थ दृष्टिगोचर हैं तथा उपभोग के अर्थ में आता है वह सब पुद्गल द्रव्य ही है।

प्रश्नः—जिस प्रकार अरूपी अजीव के ३० भेद वर्णन किये गए ठीक उसी प्रकार रूपी अजीव के कितने भेद वर्णन किये गए हैं ?

उत्तर—५३० भेद रूपी अजीव तत्व के वर्णन किये गए हैं।

प्रश्न—वे किस प्रकार से ?

उत्तरः—सुनिये। जैसे कि—

५ संस्थान—परिमण्डल संस्थान (चुड़ीके आकार) वट्ट संस्थान (वृत्ताकार-गोलाकार) त्र्यस संस्थान (त्रिकोणाकार) चतुरस्र संस्थान—चौकी के (पीठ के आकार) आयत संस्थान (दीर्घाकार)
५ वर्णः—कृष्ण १ नील २ पीत ३ रक्त ४ और श्वेत ५

प्रश्न —जीव तत्व किसे कहते हैं ?

उत्तर —जो तीन काल में अपना अस्तित्व रखता हो आयु-कर्म द्वारा जीता हो जिनका वर्णन गत पाठों में किया जा चुका है।

प्रश्न —अजीवतत्व किसे कहते हैं ?

उत्तर —जिस तत्व में जीवसत्ता न हो। जैसे कि — उपयोग और वीर्य न हो उसे ही अजीव तत्व कहा जाता है।

प्रश्न —जड पदार्थों में क्रिया तो देखी जाती है जैसे कि परमाणु आदि की गति तो फिर अजीव तत्व उसे क्यों कहा जाता है ? क्योंकि क्रियात्मक होने से उसे जीवतत्व की सिद्धि होनी चाहिये ?

उत्तर —प्रियवर ! जड पदार्थों में सक्रियता तो अवश्य है परन्तु वह क्रिया शल्यरूप है क्योंकि जडत्व है क्रिया है नतु उपयोग पूर्वक अतएव जहा पर उपयोग और वीर्य ये दोनो गुण पाये जायँ उसी को जीव कहते हैं परन्तु जहा पर उपयोग गुण न हो उसी तत्व को अजीव तत्व कहते हैं।

प्रश्न —अजीव तत्व (पदार्थ) रूपी है किंवा अरूपी है ?

उत्तर—अजीव पदार्थरूपी भी है और अरूपी भी है।

प्रश्न—यह कैसे?

उत्तर—जैन मत में षट द्रव्य माने गए हैं। जैसे कि—धर्म द्रव्य १ अधर्म द्रव्य २ आकाश द्रव्य ३ काल द्रव्य ४ जीव द्रव्य ५ और पुद्गल द्रव्य ६ सो उक्त षट द्रव्यों में जीव द्रव्य केवल चैतन्य सत्ता वाला है। शेष पांच द्रव्य चैतन सत्ता न होने से अजीव द्रव्य कहे जाते हैं किंतु इसमें भी ४ द्रव्य अरूपी और एक केवल पुद्गल द्रव्यरूपी कहा जाता है। अतएव कहा जाता है कि अजीव द्रव्य रूपी भी है और अरूपी भी है।

प्रश्न—रूपी अजीव द्रव्य के उपभेद कितने हैं?

उत्तर—अरूपी अजीव द्रव्य के उपभेद ३० हैं।

प्रश्न—वे तीस भेद किस प्रकार गिने जाते हैं?

सुनिये—जैसे कि धर्म द्रव्य के प्रथम तीन भेद हैं यथा स्कंध १ देश २ और प्रदेश ३ इसी प्रकार अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य के भी तीन २ भेद किये जानेपर सर्व ९ भेद हुए। फिर काल का केवल एक ही भेद है। इस प्रकार

प्रश्न —उनके नाम क्या क्या हैं ?

उत्तर —जीव तत्व १ अजीव तत्व २ पुण्य तत्व ३ पाप तत्व ४ आश्रव तत्व ५ सम्वर तत्व ६ निर्जरा तत्व ७ बंध तत्व ८ मोक्ष तत्व ९।

प्रश्न —वैशेषिक मत सात तत्व मानता है, नैयायिक १६ पदार्थ मानता है, साख्य प्रकृति और पुरुष को मानता है वेदान्त केवल एक ब्रह्म को ही स्वीकार करता है और बोद्ध पांच स्कधों की ही उद्घोषणा करता है ऐसा क्यों ?

उत्तर —जो कुछ उक्त मतवालोंने तत्व प्रति-पादन किये हैं वे वास्तव में तत्व नहीं है किंतु तत्वाभास हैं। अत. ये तत्व युक्ति क्षम नहीं हैं।

प्रश्न —इस प्रकार तो उक्त मत वाले भी कह सकते हैं कि जैनमत के माने हुए वास्तव में तत्व नहीं हैं किंतु तत्वाभास ही हैं। तो भला इसमे प्रमाण ही क्या है ?

उत्तर —प्रिय मित्रवर्य ! केवल मुख से कहदेने से ही काम नहीं चल सक्ता। जब तक कि युक्ति प्रमाण से उन तत्वों की जाच न की जाय।

५ रस — तिक्त १ कटुक २ कषाय रस ३ अवम्बिल (खट्टा) ४ मधुर ५

गन्ध —दुर्गंध और सुगंध।

स्पर्श कर्कश १ सकोमल २ रूक्ष ३ स्निग्ध ४ लघु ५ गुरु ६ उष्ण ७ शीत ८

परिमंडल संस्थान का भाजन हो वृत्त संस्थान प्रतिपक्ष हो तो परिमंडल संस्थान म २० बोल पड़ते हैं।

जैसे कि —पाच वर्ण १ पाच रस २ दो गंध ३ आठ स्पर्श इसी प्रकार २० बोल वृत्त संस्थान म २० त्र्यस में २० बोल चतुरस्र संस्थान मे २० बोल आयत संस्थान में सर्व पाच संस्थानों में २० बोल होगए।

१ कृष्ण वर्ण के भाजन मे २० बोल —५ रस ५ संस्थान २ गंध ८ स्पर्श —

सो इसी प्रकार नीलवर्ण, पीतवर्ण, रक्तवर्ण, और श्वेतवर्ण में भी पूर्वोक्त विधि से २०-२० बोल पड़ते हैं सो सर्व संख्या एकत्र करने से १०० बोल होजाते हैं। सो जिस प्रकार से पाच वर्णों में १०० भेद पड़ते हैं उसी प्रकार पाच रसों के भी १०० भेद होजाते हैं तथा ५ संस्थानों के भी उक्त विधि से १०० भेद बन जाते हैं परंतु सुगंध मे

बोल पड़ते हैं जैसे कि सुगंध का भाजन है दुर्गंध उसका प्रति पक्ष है उनमें ५ वर्ण ५ रस ५ सस्थान और इसी प्रकार ८ स्पर्श इस प्रकार २३ बोल पडजाते हैं। जिस प्रकार सुगंध में अंक पड़ते हैं उसी प्रकार दुर्गंध में भी जानना चाहिये। और आठ स्पर्शों में १८४ बोल पड़ते हैं जैसे कि - कर्कश स्पर्श के भाजन में २३ बोल -- ५ वर्ण ५ रस ५ सस्थान २ गंध ६ स्पर्श। इसी प्रकार आठों स्पर्शों में तेवीस २ बोलों की सभावना कर लेनी चाहिये। क्योंकि जब किसीने कर्कश स्पर्श में २३ बोल पाने हों तो उसको केवल कर्कश का प्रतिपक्ष मृदु स्पर्श ही छोडना पडेगा। शेष सर्व स्पर्श उनमें पडजावेंगे।

क्योंकि यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि एक स्थान में दो विरोधी गुण नहीं रह सके।

सो इस प्रकार १०० बोल सस्थानों में १०० वर्णों में १०० रसों में ४६ गंधों में १८४ बोल स्पर्शों में सर्वरूपी अजीव तत्व ५३० भेद हुए। और पूर्व ३० भेद अरूपी तत्व के लिखे जा चुके हैं सो सर्व भेद अजीव तत्व के ५६० हुए।

यह केवल व्यवहार नय के आश्रित होकर मुख्य भेद वर्णन किये गए हैं किंतु उत्तर भेद तो इसके असख्य वा अनत हो जाते हैं।

क्योंकि जब परमाणु पुद्गल का अनत पर्याय वर्णन किये गया है तो फिर उसके भेद भी तो अनत हो सके हैं। और यों।। सब जगत् जड और चेतन से युक्त है। ससारी आत्मा इन्हीं जड पदार्थों के मोहमें फसकर दु ख उठारहा है।

प्रश्न —जड पदार्थों में जडत्व गुण कबसे है ?

उत्तर —अनादि काल से।

प्रश्न —जब अनादित्व जडत्व गुण है तो फिर उस गुण से आत्मा विमुक्त किस प्रकार हो सक्ता है ?

उत्तर —स्वानुभवसे।

प्रश्न —स्वानुभव किस प्रकार करना चाहिये ?

उत्तर सदैव काल इस बातका अनुभव करते रहना चाहिये कि हे आत्मन्! तू अनत शक्ति स्वरूप है, तू अजर अमर और सिद्ध बुद्ध है तथा हे आत्मन्! तू सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है और तू ही सब का उपास्य देव है किंतु कर्मों के कारण से तू मूर्ख और दु खों का अनुभव कर रहा है। यदि तू धर्म और शुक्लध्यान के आश्रित होजाय तो तू सर्व प्रकार के कर्म बधन से छूटकर सिद्ध बुद्ध होजायगा तथा यावन्मात्र पौद्गलिक सम्बन्ध तेरे साथ हो रहा है वह सब क्षण विनश्वर है। अतएव तुझे योग्य है कि

पवित्र बनाता है क्योंकि तत्त्व का वास्तवमें यही मुख्य लक्षण है कि वह स्वतन्त्रता पूर्वक अपना कार्य करता रहता है।

प्रश्न—क्या सभी आत्माएं संसार में परिभ्रमण करनेवाली पुण्योपार्जन करती रहती हैं ?

उत्तरः—हां, संसारी सभी आत्माएं समय २ उक्त कर्म का संचय करती रहती हैं परन्तु विशेषता इतनी ही है कि न्यूनाधिक पुण्य प्रकृतियों का प्रत्येक आत्माएं समय २ बंध करती रहती हैं।

प्रश्नः—क्या किसी नयने पुण्य को धर्म भी माना है ?

उत्तर—हां, व्यवहार नय के मत से पुण्य क्रियाओं को धर्म भी माना गया है।

प्रश्न—क्या पुण्य रूप क्रियाएं आत्म रूप धर्म नहीं है ?

उत्तर—आत्मरूप धर्म पुण्य और पाप दोनों से रहित होता है।

प्रश्न—हम तो पुण्यरूप क्रियाओं को ही आत्मरूप धर्म समझते हैं ?

उत्तर—यह कथन आपका विचार पूर्वक नहीं है क्योंकि यदि किसी मूर्ख व्यक्ति को विद्वानों वा जटलमेनों

क्योंकि उस आत्मा का आदेय [माननीय] नाम कर्म ः बांधा हुआ होता है जिससे उसकी कथन की हुई बातें सर्वत्र माननीय बन जाती है ।

अतएव पुण्य रूप परमाणु संसार पक्ष में आत्मा को शुभ और पवित्र रूप बनाते हैं ।

इतना ही नहीं किंतु पुण्यरूप आत्मा के सकल मनोरथ चिंतन किये हुए सफल हो जाया करते हैं ।

देव योनि आदि बहुत सी योनियाँ उत्कृष्ट पुण्य के प्रभाव से ही जीवों को उपलब्ध होती हैं जिससे किसी नय की अपेक्षा से "ज्ञेय" रूप पुण्य होने पर भी उपादेय (ग्रहण करने योग्य) प्रतिपादन किया गया है ।

सो पुण्य रूप क्रियाएं केवल शुभयोगों पर ही निर्भर है । अतएव इस पाठमें इसी विषय को स्पष्ट रूप से बतलाने की चेष्टा की जायगी ।

प्रश्न —पुण्य तत्व किसे कहते हैं ?

उत्तर —जो ससार में जीवों को शुभ वा पवित्र बनावे ।

प्रश्न —पुण्य को तत्व क्यों माना गया है ?

उत्तर —यह एक पुण्य रूप पुद्गलों का स्कंध होता है जो अनेक विपत्तियों से निकाल कर फिर जीव को

गुहा के दान से या जो पर्वतों में गृह होते हैं उनके दान करने से ३ (सयण पुण्णे) शय्या के (वसति आदि) के दान से ४ (वत्थ पुण्णे) वस्त्र के दान से ५ (मण पुण्णे) मन की शुभ प्रवृत्ति से ६ (वयण पुण्णे) शुभ वचन के योग प्रवर्तीने से ७ (काय पुण्णे) पाप कर्म से काया का निरोध करने स ८ (नमोक्कार पुण्णे) नमस्कार करने से ।

इन नौ कारणों से आत्मा पुण्य कर्म का सचय कर लेता है कारण कि जब किसी प्राणी पर अनुकम्पा के भाव उत्पन्न होते हैं तब आत्मा उक्त क्रियाओं के करने में प्रवृत होता है और फिर उन्हीं शुभ भावों से पुण्य रूप परमाणुओं का सचय किया जाता है ।

जिस प्रकार कोई आत्मा शांत चित्त से कार्तिक शुक्ल पौर्णिमासी के चन्द्र को देखता हो तथा प्रात काल में वर्षा पड़जाने के पश्चात पुष्प वाटिका मे पुष्पों की सौंदर्यता को देखता हो तब उसके आत्मा में शांतमय परमाणुओं का सचार हो जाने से मन और चक्षुओंके परम प्रसन्नता हो जाती है। ठीक उसी प्रकार पुण्य कर्म के परमाणुओं का आत्म प्रदेशों के साथ जब क्षीर नीरवत् सम्बन्ध हो जाता है तब उन परमाणुओं का सचय जब उदय भाव में आता है तब आत्मा को ससार पक्ष में पवित्र बनाकर उसे जनता में प्रतिष्ठित करते हैं ।

का वेष पहनाकर राजद्वार में भेजा जाय तो फिर वह क्या उस वेष के पहनने से ही विद्वान या प्रोफेसर तथा डाक्टर आदि उपाधियों के काम देने में समर्थ हो जायगा ? कदापि नहीं। यदि ऐसा कहा जाय कि उसका वेष तो वही है तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि उसमें विद्या नहीं है केवल वेष क्या बना सकता है ? सो इसी प्रकार पुण्य रूप तत्व आत्मा के बाहर, रूप वेष को पवित्र बनाता है नतु अतरंग आत्मा को । क्योंकि पुण्य केवल अघाति म रूप कर्मों का ही फल है।

अतएव जिस प्रकार सुंदर आभूषण या सुंदर रूप, बस्त्र बाह्य रूप शरीर को सुंदर वा अलङ्कृत करते हैं उसी प्रकार पुण्य तत्व के विषय में भी जानना चाहिये ।

प्रश्न —वास्तव में तत्व शब्द का अर्थ क्या है ?

उत्तर:—पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को तत्व कहते हैं।

प्रश्नः—पुण्य तत्व किन २ कारणों से जीव बांधते हैं ?

उत्तर —नौ प्रकार से जीव पुण्य कर्म का संचय करते हैं।

प्रश्न —वे कारण कौन २ से हैं ?

उत्तर —सुनिये (अन्न पुण्णे) अन्न दान से १ (पाण पुण्णे) पानी के दान से २ (लयण पुण्णे) गिरी आदि की

तिर्यग् की आयु ३ । ये तीन प्रकृतियाँ जीव पुण्य कर्म के बल से आयुष्कर्म को अनुभव करता है ।

यदि ऐसा कहा जाय कि क्या पशु का आयुष्कर्म भी पुण्योदय से माना जाता है ? तो इसके उत्तर में कहा जाता है कि कर्म भूमिज वा अकर्म भूमिज बहुत से ऐसे पशु भी हैं जिनका मनुष्य वा देवता सेवा करते हैं । इस वास्ते इस प्रकार पशुओं का आयुष्कर्म भी पुण्योदय से माना गया है ।

पुण्य प्रकृति के उदय से नाम कर्म की ३७ प्रकृतियाँ भोगने में आती है जो निम्न लिखित अर्थ युक्त लिखी जाती । जैसे कि —

नाम कर्म किसे कहते हैं ?

जो नाम को गत्यादिक नाना रूप परिणमावे अथवा शरीरादिक बनावे भावार्थ — नामकर्म आत्मा के सूक्ष्मत्व गुण को घातता है ।

१ देव गति किसे कहते हैं ?

जो कर्म जीव का आकार देव रूप बनावे ।

२ मनुष्य गति किसे कहते हैं ?

जो कर्म जीव का आकार मनुष्य रूप बनावे

३ पंचेन्द्रिय जाति किसे कहते हैं ?

८ कार्माण शरीर किसे कहते हैं ?

ज्ञानावरण आदि कर्मों का खजाना और आहार को शरीर में ठिकाने २ पहुचाने वाला।

९ औदारिक का अगोपाग १० वैक्रिय का अगोपाग ११ आहारक शरीर का अगोपाग किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से अग (सिर, पैर, हाथ, आदि) और उपाग (अगुली, नाक, कान, आदि) बने सो उक्त तीनों शरीरों के अगोपाग होते हैं शेष दो शरीरों के अंगोपाग नहीं होते हैं अत तीनों शरीरों के अगोपाग कहे जाते हैं।

१२ वज्रऋषभनाराचसहनन किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से मर्कट-बध से बधी हुई दो हड्डियों के ऊपर तीसरी हड्डी का वेष्टन हो और तीनों को भेदने वाली हड्डी की कील जिस सहनन में हो।

१३ समचतुरस्रसस्थान किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से पलॉठी (पालखी) मारने पर शरीर की शक्ल चारों ओर से समान हो।

१४ शुभ वर्ण किसे कहते हैं ?

जिस नाम कर्म के उदय से शुभ वर्ण की उपलब्धि हो। जैसे सुदर वर्णादि (सुदर रूप)।

जिस कर्म के माहात्म्य से सर्व पुद्गल-जन्य और सर्व [illegible] महत्त्वा से [illegible] [illegible] विशेष को [illegible] करता है । अर्थात् यह [illegible] धर्म वाले पदार्थों को ही [illegible] करता है ।

४ औदारिक शरीर किसे कहते हैं ?

उदार प्रधान अर्थात् जिस शरीर से मोक्ष जा सके, तथा जो मांस अस्थि आदि से बना हुआ हो ।

५ वैक्रिय शरीर किसे कहते हैं ?

एक अनेक और विचित्र बन सके ।

६ आहारक शरीर किसे कहते हैं ?

प्राणि दया, तीर्थकरों की ऋद्धि का देखना, सूक्ष्म पदार्थ का जानना, संशय छेदन करना इत्यादि कारण उत्पन्न होनेपर चौदह पूर्वधारी मुनिराज योग बल से जो शरीर बनाते हैं उसे आहारक शरीर कहते हैं ।

७ तैजस शरीर किसे कहते हैं ?

औदारिक वैक्रिय शरीर को तेज (कांति) देनेवाला आहार का पचाने वाला और तेजोलेश्या का साधक तैजस शरीर कहलाता है ।

२१ अगुरुलघु नामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदयसे जीव का शरीर शीशे के गोले के समान न भारी हो और न अर्कतूल के समान हलका हो ।

२२ परघातनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से जीव बड़े २ बलवानों की दृष्टि में भी अजेय मालूम हो ।

२३ उश्वासनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से बाहरी हवा को शरीर में नासिका द्वारा खींचना (श्वास) और शरीर के अन्दर की हवा को नासिका द्वारा बाहर छोड़ना [उच्छ्वास] ये दोनों क्रियाएं हों उसको श्वासोच्छ्वास नामकर्म कहते हैं ।

२४ आतापनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से शरीर आतापरूप हो जैसे-सूर्य मंडल ।

२५ उद्योतनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से, उद्योत रूप शरीर हो जैसे-चन्द्रमंडल, नक्षत्रादि ।

२६ निर्माणनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से अंग और उपांग शरीर में अपने २ स्थान पर व्यवस्थित रहें ।

२१ अगुरुलघु नामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदयमे जीव का शरीर शीशे के गाले के समान न भारी हो और न अर्कतूल के समान हल्का हो ।

२२ पराघातनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से जीव बडे २ बलवानो की दृष्टि में भी अजेय मालूम हो ।

२३ उश्वासनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से बाहरी हवा को शरीर में नासिका द्वारा खींचना (श्वास) और शरीर के अंदर की हवा को नासिका द्वारा बाहर छोडना [उच्छ्वास] ये दोनों कियाए हो उसको श्वासोच्छ्वास नामकर्म कहते हैं ।

२४ आतापनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय मे शरीर आतापरूप हो जैसे-सूर्य मंडल ।

२५ उद्योतनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से उद्योत रूप शरीर हो जैसे-चंद्रमंडल, नक्षत्रादि ।

२६ निर्माणनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय में अंग और उपांग शरीर मे अपने २ स्थान पर व्यवस्थित रहें ।

२७ तीर्थंकरनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से तीर्थंकरपद की प्राप्ति हो ।

२८ त्रसनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से द्वीन्द्रियादि त्रसकाय की प्राप्ति हो ।

२९ बादरनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से जीव को बादर (स्थूल) काय की प्राप्ति हो ।

३० पर्याप्तनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से जीव अपनी २ पर्याप्तियों से युक्त हो अर्थात यावन्मात्र जिसमे पर्याप्तियाँ पडती हों तावन्मात्र पर्याप्तियों से युक्त हो जावे ।

३१ प्रत्येकनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदयसे एक शरीर का एक जीव स्वामी हो अर्थात एक शरीर म एक ही आत्मा निवास करनेवाले होवे । यद्यपि उसकी नेश्राय अनेक आत्माए और भी उस शरीर मे रह सकती हैं परंतु मुख्यतामें एक ही आत्मा उस शरीर में रहे ।

३२ स्थिरनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से दांत, हड्डी वगैरह शरीर के अवयव स्थिर (अपने २ ठिकाने) हों ।

३३ शुभनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से शरीर के अनयग सुदर हो।

३४ सौभाग्यनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से दूसरे जीव अपने ऊपर बिना कारण प्रीति करें।

३५ सुस्वरनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय मे स्वर अच्छा हो।

३६ आदेयनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो।

३७ यशोकीर्तिनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से ससार मे यश और कीर्ति फैले (एक दिशा में प्रशसा फैले उसे कीर्ति कहते हैं और सब दिशाओ में प्रशसा फैले उसे यश कहते हैं)।

इस प्रकार पुण्य प्रकृति के उदय मे ३७ प्रकृतियाँ नामकर्म की जीव बाधता है और फिर उसी प्रकार उन शुभ प्रकृतियो के फलों का अनुभव करता है।

गोत्रकर्म की केवल एक ही प्रकृति पुण्य प्रकृति के उदय से बाधी जाती है। जैसे कि—उच्च गोत्र। इस प्रकार आत्मा नौ प्रकार से पुण्य प्रकृतियों को बाधकर पूर्वोक्त लिखे हुए ४२ प्रकार के उनके फलों का अनुभव करता है।

प्रश्न—ये उक्त पुण्य प्रकृतियाँ क्या अपने आप फल देने में समर्थता रखती हैं ?

उत्तर—जब कर्म बाधने या भोगने का समय उपस्थित होता है तब उस समय आत्मा काल, स्वभाव, नियति कर्म और पुरुषार्थ इन पाच समवायों को एकत्र कर लेता है। और जब ये पाच समवाय एकत्र हो जाते हैं तब आत्मा इनके द्वारा फलों का अनुभव करने लगता है।

प्रश्न—इन पाच समवायों की सिद्धि में कोई दृष्टांत देकर समझाओ ?

उत्तर—जिस प्रकार एक कृषिबल (किसान) को अपने खेत में धान्य बीजना है तो प्रथम तो उस धान्य के बीजने का समय (काल) ठीक होना चाहिये। जब काल ठीक है तब धान्य शुद्ध होना चाहिये क्योंकि जिस बीज का अकुर देने का स्वभाव है वही बीज साधक हो सकता है अन्य नहीं।

जब स्वभाव शुद्ध है तब नियति अर्थात बाहिर की क्रियाएं भी शुद्ध होनी चाहिये। इसी प्रकार उस बीजने आदि का कर्म भी यथावत होना चाहिये।

कल्पना करो कि जब चारों ही समवाय ठीक मिल जाँय तब फिर पुरुषार्थ की भी अत्यंत आवश्यकता है क्योंकि बिना पुरुषार्थ किये ये चारों समवाय निरर्थक होने की सभावना की जासकेगी।

अतएव जब पाचवा समवाय पुरुषार्थ भी यथाक्रम मिलगया तब वह कृषिबल अपनी क्रियासिद्धि में सफल मनोरथ हो सक्ता है।

सो इसी न्याय से आत्मा भी कर्म बाधने वा भोगने में उक्त पाच समवायों की अवश्यमेव आवश्यक्ता रखता है।

क्योंकि जिस प्रकार एक सुलेखक मषीपात्र वा पत्रादि सामग्री के विना लेखन क्रिया में सफल मनोरथ नहीं हो सक्ता, ठीक उसी प्रकार आत्मा भी उक्त पाचों समवाया के बिना मिलें किसी भी क्रिया की सिद्धि में सफल मनोरथ नहीं हो सक्ता।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक कार्य की सिद्धि में पाच समवायों का मिलना अत्यावश्यक ही है।

प्रश्न—जब आत्मा पुण्य प्रकृतियों का बध करता है तो फिर क्या वे पुण्य प्रकृतियॉ किसी विशेष कारण से पाप फल के देने वाली भी बन जाती हैं ?

प्रश्न—ये उक्त पुण्य प्रकृतियाँ क्या अपने आप फल देने में समर्थता रखती हैं ?

उत्तर.—जब कर्म बांधने या भोगने का समय उपस्थित होता है तब उस समय आत्मा काल, स्वभाव, नियति कर्म और पुरुषार्थ इन पाच समवायों को एकत्र कर लेता है। और जब ये पाच समवाय एकत्र हो जाते हैं तब आत्मा इनके द्वारा फलो का अनुभव करने लगता है।

प्रश्न—इन पाच समवाया की सिद्धि में कोई दृष्टान्त देकर समझाओ ?

उत्तर—जिस प्रकार एक कृषिवल (किसान) को अपने खेतमे धान्य बीजना है सो प्रथम तो उस धान्य के बीजने का समय (काल) ठीक होना चाहिये। जब काल ठीक है तब धान्य शुद्ध होना चाहिये क्योंकि जिस बीज का अंकुर देने का स्वभाव है वही बीज सार्थक हो सकता है अन्य नहीं। -

जब स्वभाव शुद्ध है तब नियति अर्थात बाहिर की क्रियाएं भी शुद्ध होनी चाहिये। इसी प्रकार उस बीजने आदि का कर्म भी यथावत होना चाहिये।

उत्तर —हां। किसी विशिष्टतर भावों की उत्कर्षता के कारण से पापरूप प्रकृतियाँ पुण्यरूप फल के देने मे समर्थ हो सक्ती हैं।

प्रश्न —इसमे कोई प्रमाण दो ?

उत्तर:—इसमें प्रमाण तो केवल भावों की उत्कर्षता ही है। परंतु जिस प्रकार पुण्यरूप प्रकृतियों को भावों से विपरिणमन आत्मा कर सक्ता है इसी प्रकार पापरूप प्रकृतियों को भी शुभ भावों से पुण्यरूप कर सक्ता है।

जिस प्रकार दुग्ध से दधि बनाया जाता है फिर युक्ति से उसी दधि से नवनीत निकाला जासक्ता है।

फिर उसी नवनीत से घृत बन जाता है। क्रमश अनेक पदार्थों का उस घृत में सस्कार किया जाता है।

ठीक तद्वत् शुभ भावनाओं द्वारा शुभ अशुभ प्रकृतियों का विपरिणमन किया जा सक्ता है।

इस वास्ते प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह शुभ मनोयोग द्वारा प्रत्येक पदार्थ पर विचार करता रहे जिससे ज्ञान वा पुण्य प्रकृतियों का बध ये दोनों लाभ आत्मा को उपलब्ध होते रहें।

क्योंकि धर्म-क्रियाओं के करते समय ये पुण्य प्रकृतियाँ फिर करण (साधन) का काम दे सक्ती हैं।

आत्मा सम्यग्-दर्शनादि के द्वारा ठीक २ पदार्थों का अनुभव कर सक्ता है।

अत प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह साधन द्वारा साध्य की प्राप्ति करे वा उसकी खोज करे।

पाठ दसवां।

आत्मानुप्रेक्षा।

प्रिय सुज्ञ जनों! यावत्काल पर्यंत आत्मा स्वानुभव नहीं करता तावत्काल पर्यंत आत्मा आत्मिक सुखों से वंचित ही रहता है। क्योंकि ससार में देखा जाता है कि प्रत्येक आत्मा सुखान्वेषी हो रहा है परन्तु उस अन्वेषण के मार्ग भिन्न २ दिखाई पड़ते हैं। जैसे कि – किसी २ आत्माने धन की प्राप्ति में ही सुख मान रक्खा है और किसी २ आत्माने विवाह कार्य म सुख माना हुआ है।

तथा किसी २ आत्मा ने पुत्रोत्सव में ही सुख माना हुआ है वा किसी २ आत्मा ने अपनी ... में सुख ... रक्खा है। यदि विचार कर ... उक्त सुख के अन्वेषण करने के मार्ग ...

क्योंकि उन ... इच्छानुकूल सुख

नहा होते हैं। जैसे कि — जब धन की इच्छानुकूल प्राप्ति होगई तबतो मानलो कि उस आत्मा को सुख तो होगया परंतु जब उसी धन का किसी निमित्त से वियोग होजाता है तब फिर वही आत्मा परम शोक से व्याकुल हो जाता है। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के विषय में भी जानना चाहिये।

अतएव परम सुख की प्राप्ति के लिये स्वानुभव करना चाहिये। अब प्रश्न यह उपस्थित हो सक्ता है कि स्वानुभव किस प्रकार करना चाहिये ? तो इसके उत्तर में कहा जा सक्ता है कि जब आत्मा की बाहिरी वासनाएं नष्ट हो जाती हैं और उस आत्मा के समभाव प्रत्येक जीव के साथ हो जाते हैं तब उस समय आत्मा स्वानुभव कर सक्ता है।

अतएव आत्मा के स्वानुभव करने के लिये प्रथम पांच बातों को अवश्यमेव ध्यान रखना चाहिये। जैसे कि -

विवेक १ विचार २ शांति ३ निर्ममत्व भाव ४ आत्म निवास करने का शुद्ध स्थान ५ इन पांच बातों का विचार सदैवकाल करते रहना चाहिये। जैसे कि —

१ विवेक —सत् और असत् वस्तु पर विचार करते रहना। साथही इस बात का विचार करना कि हेय, ज्ञेय और उपादेय पदार्थ कौन २ से हैं ? क्योंकि यावत्काल पर्यन्त

आत्मा सम्यग् ज्ञानादि के द्वारा ठीक २ पदार्थों का अनुभव कर सक्ता है।

अतः प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह साधन द्वारा साध्य की प्राप्ति करे वा उसकी खोज करे।

पाठ दसवां।

आत्मानुप्रेक्षा।

प्रिय सुज्ञ जनों! यावत्काल पर्यंत आत्मा स्वानुभव नहीं करता तावत्काल पर्यंत आत्मा आत्मिक सुखों से वंचित ही रहता है। क्योंकि संसार में देखा जाता है कि प्रत्येक आत्मा सुखान्वेषी हो रहा है परंतु उस अन्वेषण के मार्ग भिन्न २ दिखाई पड़ते हैं। जैसे कि – किसी २ आत्माने धन की प्राप्ति में ही सुख मान रक्खा है और किसी २ आत्माने विवाह कार्य में सुख माना हुआ है।

तथा किसी २ आत्मा ने पुत्रोत्सव में ही सुख माना हुआ है वा किसी २ आत्मा ने अपनी अभीष्ट सिद्धि में सुख समझ रक्खा है। यदि विचार कर देखा जाय तो ये सब उक्त सुख के अन्वेषण करने के मार्ग वास्तव में सुमार्ग नहीं हैं।

क्योंकि उन मार्गों से यदि किसी आत्माको उनकी इच्छानुकूल सुख उपलब्ध भी हो जावे तो वे सुख चिरस्थायी

नहीं होते हैं। जैसे कि -- जब धन की इच्छानुकूल प्राप्ति होगई तबतो मानलो कि उस आत्मा को सुख तो होगया परंतु जब उसी धन का किसी निमित्त से वियोग होजाता है तब फिर वही आत्मा परम शोक से व्याकुल हो जाता है। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के विषय में भी जानना चाहिये।

अतएव परम सुख की प्राप्ति के लिये स्वानुभव करना चाहिये। अब प्रश्न यह उपस्थित हो सक्ता है कि स्वानुभव किस प्रकार करना चाहिये ? तो इसके उत्तर में कहा जा सक्ता है कि जब आत्मा की बाहिरी वासनाएं नष्ट हो जाती हैं और उस आत्मा के समभाव प्रत्येक जीव के साथ हो जाते हैं तब उस समय आत्मा स्वानुभव कर सक्ता है।

अतएव आत्मा के स्वानुभव करने के लिये प्रथम पांच बातों को अवश्यमेव ध्यान रखना चाहिये। जैसे कि

विवेक १ विचार २ शांति ३ निर्ममत्व भाव ४ आत्म विकास करने का शुद्ध स्थान ५ इन पांच बातों का विचार सदैवकाल करते रहना चाहिये। जैसे कि --

१ विवेक --सत् और असत् वस्तु पर विचार करते रहना। साथही इस बात का विचार करना कि हेय, ज्ञेय और उपादेय पदार्थ कौन २ से हैं ? क्योंकि यावत्काल पर्यन्त

आत्मा हेयरूप पदार्थों का परित्याग नहीं करता और ज्ञेय रूप पदार्थों को ज्ञेयरूप नहीं समझता तथा उपादेयरूप पदार्थो को धारण नहीं कर सका तबतक उस आत्मा को शांति का मार्ग ही उपलब्ध नहीं हो सकता।

कारण कि जबतक उस आत्माने पाप कर्मों का परित्याग नहीं किया और जीव तथा अजीव या पुण्य कर्मों के मार्गों का ज्ञान प्राप्त नहीं किया, संवर या निर्जरा के मार्गों को अंगीकार नहीं किया तबतक उस आत्मा को किस प्रकार स्वानुभव हो सकता है?

तथा जिस प्रकार वायु से दीपक कंपायमान होता रहता है या जल में वायु के कारण से बुद्बुद (बुलबुले) उत्पन्न होते रहते हैं, ठीक इसी प्रकार पुण्य और पाप के बल से या उनकी उत्कृष्टता से आत्मा भी अस्थिर चित्तवाला हो जाता है जिसके कारण से वह स्वानुभव नहीं कर सकता या करने में उसे कई प्रकार के विघ्न उपस्थित होते रहते हैं।

अतएव विवेक द्वारा प्रत्येक पदार्थ पर ठीक २ अनुभव करना चाहिये अर्थात् प्रत्येक क्रियाएँ विवेक पूर्वक ही होनी चाहिये

क्योंकि यह बात भली प्रकार से मानी गई है कि जो कार्य विवेक पूर्वक किया जाता है वह सदैव काल शुभ और पवित्र तथा आत्मा के हित के लिये होता है।

२ विचार – जब प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक होने लगता है तब आत्मा सदैव काल विचार के आश्रित रहने लग जाता है कारण कि इन दोनों का विचार परस्पर अविनाभावी संबंध है जैसे कि — विवेक विचार के आश्रित और विचार विवेक के आश्रित रहता है।

जिस प्रकार विवेक पूर्वक एक शुद्ध वाक्य उच्चारण किये जाने पर तब विचार से निश्चित होता है जिस प्रकार के वाक्य का हम प्रयोग करेंगे उसी प्रकार का प्रत्याघात हमारे सन्मुख उपस्थित हो जायगा।

इसी प्रकार जब हम किसी व्यक्ति को कटुक और स्नेह रहित वाक्य का प्रयोग करेंगे तब वह व्यक्ति उससे कई गुणा बढ़के निष्ठुर और परम दारुण इतना ही नहीं किंतु मर्म प्रकाशक कर्णेन्द्रिय को असहनीय वाक्यों का प्रहार करने लग जाता है सो इस कथन से यह बात भली प्रकार से सिद्ध हो जाती है कि जिस प्रकार का हम लोगों के साथ वचन का व्यवहार करते हैं उसके प्रतिरूप में हमें उसी प्रकार के वचनों के सुनने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

सो उक्त विचार से हम को भली प्रकार से निश्चित हो जाता है कि हमें वचन विवेक पूर्वक उच्चारण करना चाहिये क्योंकि जो कार्य विचार वा विवेक पूर्वक किया जाता है यदि वह सर्वथा सफलता प्राप्त न कर सके तो वह हानि भी नहीं उठा सकता।

विचार प्रत्येक पदार्थ में होना चाहिये। देखिये —

यदि खानपानादि में विचार किया जाय तो भक्ष्य और अभक्ष्य पदार्थों का भली भांति ज्ञान हो जाता है। यदि भक्ष्य पदार्थों पर भोजन करते समय विचार किया जाय तब परिमित भोजन करने से रोगों से निवृत्ति और शरीर से आलस्य का नाश होता है।

यदि चलते समय विचार किया जाय तो जीव रक्षा तथा ठोकरादि से शारीरिक रक्षा भली प्रकार से हो जाती है। यदि भाषण विचार पूर्वक किया जाय तो आत्म विश्राम और जनता में यश शीघ्र ही हो जाता है। यदि खानपानादि पदार्थों पर विचार किया जाय तब इच्छा निरोध और खान पदार्थ पवित्र सेवन करने में आते हैं जिससे मनकी प्रसन्नता और रोगों की निवृत्ति होने की संभावना की जा सक्ती है।

यदि जो २ पदार्थ रक्खे वा उठाने वाले विवेक या विचारपूर्वक रक्खें या उठावें तब एक तो जीव रक्षा दूसरे पदार्थों का ठीक बने रहना देखने में आता है।

जैसे कि किसीने घृत का घट बिना यत्नसे रख दिया तब घट के फूटने की संभावना और घृत के भूमि पर गिर जाने की संभावना की जा सक्ती है।

तथा किसीने कांच के बर्तन या हंडी आदि भाजन बिना विचार से गेर दिये (रक्खे) तब वे फिर फूट जावें।

या किसीने राख से बाँधे हुए को विना विचार से वालु राशी में गेर दिया फिर अकस्मात उस राख के वस्त्र की गांठ खुलजाय तब सर्व राख वालु की राशि में सम्मिलित हो जायगी।

इसी प्रकार प्रत्येक कार्य के विषय मे सभावना कर लेनी चाहिये।

यदि मल मूत्रादि के गेरने का समय उपस्थित हो जाय तब भी विचार की अत्यत आवश्यकता रहती है क्योंकि विना योग्य स्थान के देखे उक्त पदार्थों का गेरना दु खप्रद और रोगप्रद तथा घृणास्पद हो जाता है।

अतएव उक्त पदार्थ भी विना विचार से न करना चाहिये। तथा जिस स्थान पर पहिले मल मूत्रादि पदार्थ पड़े हुए हों उस स्थानपर मल मूत्रादि न करना चाहिये।

कारण कि मलमूत्र करने से एक तो जीवहिंसा दूसरे रोगों की प्राप्ति होने की सभावना की जा सक्ती है क्योंकि मल, मूत्र मे असख्यात समुर्च्छिम जीव उत्पन्न होते रहते हैं सो जब उन जीवों पर मल मूत्र किया गया तो वे जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

तथा अति दुर्गंध होने से फिर कई प्रकार के रोगों के उत्पन्न होने की सभावना हो जाती है सो इस प्रकार की क्रियाए भी विना विचार से न होनी चाहिये।

इसी प्रकार प्रत्येक गेरनेवाले पदार्थों के विषय में विचार करना चाहिये तथा जो अनभिज्ञ आत्माएं स्वकाय शुभ के मल (मुत्रादि) को अपनी भित्ति भितरों आदि पर वा दुकान के आगे ही गेर देते हैं जिससे प्रत्येक आत्मा को घृणा आती है और यदि उक्त पदार्थों का स्पर्श हो जाय तो जीव हिंसा भी हो जाती है इसलिये उपरोक्त क्रियाएं बिना विचार से न होनी चाहिये ।

सो, उक्त कथन से स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक क्रियाओं के करते समय विचार की अत्यंत आवश्यकता है।

३ शांति—जब विचार पूर्वक क्रियाएं होने लग जाती हैं तब क्षमा की भी अत्यंत आवश्यकता रहती है क्योंकि बिना क्षमा के धारण किये विवेक और विचार ये सेना ही निरर्थक हो जाते हैं।

शांति पूर्वक ही विवेक और विचार ठीक रह सकते हैं क्योंकि जब आत्म प्रदेश शांत दशा में होंगे तबही शुभ भावना उत्पन्न हो सकती है। यदि आत्म प्रदेश अशांत दशा में होते हैं तब विवेक और विचार भी अपना काम ठीक नहीं कर सकते। जब कि क्रोधी आत्मा अपने नाश करने में भी विलम्ब नहीं करना चाहता तो भला फिर वह विवेक और विचार से क्या काम ले सकता है ?

तथा ऐसा कौनसा अकार्य है जो क्रोधी नहीं कर बैठता ? सो आत्म विचार करने के लिये प्रथम शांति धारण करनी चाहिये ।

शास्त्रों में लिखा है कि "कोहो पीइप्पणासेइ" क्रोध प्रीति का नाश कर देता है । सो जिन २ पदार्थों पर प्रीति होती है, क्रोधी उन २ पदार्थों का नाश कर देता है ।

सो विचारशील व्यक्तियों को योग्य है कि वे शांति द्वारा क्रोध को शांत करें । जब क्रोध शांत होगया तब फिर आत्मा विवेक और विचार से ठीक प्रकार से काम ले सक्ता है ।

जिस प्रकार क्रोध प्रत्येक पदार्थ के नाश करने में या बिगाडने में सामर्थ्य रखता है ठीक उसी प्रकार क्षमा प्रत्येक कार्य की सफलता करने में सामर्थ्य रखती है ।

कहा गया है कि शत्रुओं के जीतने में क्षमारूप एक महान् प्राकार [गढ या कोट] है जिसमें कोई शत्रु प्रविष्ठ ही नहीं हो सक्ता ।

अतएव आत्मानुप्रेक्षा के लिये शांति अवश्य धारण करलेना चाहिये ।

४ निर्ममत्वभाव –यावतकाल पर्यंत आत्मा निर्ममत्व भाव के आश्रित नहीं होता तावत्काल पर्यंत वह मोहनीय कर्म

क बंधन से विमुक्त भी नहीं हो सक्ता। जब मोहनीय कर्म से विमुक्त न हुआ तब यह आत्मा कभी बंधन से भी छूट नहीं सक्ता।

फिर यह बात स्वाभाविक मानी हुई है कि जबतक आत्मा कर्मों से रहित नहीं होगा तब तक यह निर्वाण की प्राप्ति भी नहीं कर सकेगा।

अतएव निर्ममत्वभाव का अवश्यमेव अवलम्बन करना चाहिये।

तथा इस बात का भी हृदय में चिन्तन करना चाहिये कि जब स्वशरीर की भी सर्व प्रकार से अस्थिरता देखी जाती है तो फिर ममत्वभाव किस पदार्थ पर किया जाय?

अतएव श्री आचारांग सूत्र में लिखा है कि " **पुरिसा तुममेव तुम मित्तं किं बहियामित्तमिच्छसि** हे पुरुष ! तूही अपनी आत्मा का मित्र है तो फिर क्या तू बाहिर के मित्र की इच्छा करता है? इस पाठका भाव यह है कि श्री भगवान भव्य जीवों प्रति उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो ! तुमही अपने आत्मा के मित्र हो तो फिर क्यों तुम अन्य मित्रों की आशा करते हो? क्योंकि जब तुम्हारा जीवन सदाचार और सद्विद्या से विभूषित हो जायगा तब सब जीव प्रायः तुमको ही अपना उपास्य मानने लग जायेंगे। और प्रेम पूर्वक तुह्मारी

भक्ति से अपने जीवन को सफल बनाने की चेष्टा करेंगे। सो इससे सिद्ध हुआ कि वास्तव में तुम्हारा आत्मा ही तुम्हारा मित्र है।

जिस प्रकार आत्मा को मित्र माना गया है ठीक उसी प्रकार आत्मा यदि सदाचार व सद्शिक्षा से विभूषित न किया तो यही आत्मा अमित्ररूप बनकर दुःखप्रद होजाता है। सो इससे स्वतः ही सिद्ध होगया कि वास्तव में मित्र या अमित्र आत्मा ही है। इसलिये ममत्वभाव को सर्वथा छोडकर केवल निर्ममत्वभाव के आश्रित होकर आत्मान्वेषी बन जाना चाहिये।

तथा इस बात का भी पुनः चिंतवन करते रहना चाहिये कि अनंतवार इस आत्मा ने स्वर्गीय सुखों का अनुभव किया है किंतु फिर भी इसकी तृष्णा शांत न हुई तो भला इन वर्तमान कालीन क्षुद्र सुखों से क्या इस आत्मा की तृष्णा शांत हो जायगी ? कदापि नहीं। तथा अपने जीवन की दशा पर प्रत्येक व्यक्ति को दृष्टी डालनी चाहिये कि मेरे जीवन में सुखप्रद वा दुखप्रद कितने प्रकार की घटनाएं हो चुकी हैं तो मैं किन २ घटनाओं पर ममत्व भाव करूं ?

जब वे घटनाएं स्थिर रूप से न रह सकी तो फिर मेरा उन घटनाओं पर ममत्वभाव करना मेरी मूर्खता का ही सूचक है। . . . प्राय तीन पदार्थों पर किया जाता

जैसे कि —धन, पशुवर्ग, या कामिनि। सो यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो वास्तव में तीनों की स्थिरता नहीं है। अतः ममत्व करना भी व्यर्थ सिद्ध हुआ।

इस प्रकार की शुभ भावनाओं द्वारा जब आत्मा निमग्न भाव के आश्रित होजायगा तब इस आत्मा का उत्साह और वर्धित पुरुषार्थ उन्नत स्थानपर पहुंच जायगा जिसके कारण से फिर यह आत्मा आत्मान्वेषी भाव का शीघ्र ही प्राप्त हो जायगा।

जब आत्मान्वेषी बनेगा तब उस आत्मा के आत्म विकास का प्रादुर्भाव होने लगेगा।

५ आत्म विकास —जिस प्रकार बादलों के दूर होजाने पर सूर्य का विकास होने लगता है तथा जिस प्रकार सूर्य के उदय होजाने पर सूर्यविकासी कमल विकसित हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार कर्मों के अपगम होजाने पर आत्मा की अतिशय शक्तियाँ विकसित होने लग जाती हैं।

जब कर्म आत्म प्रदेशों से सर्वथा पृथक् हो जाते हैं तब आत्मा के अनंत गुण प्रकट हो जाते हैं जिससे फिर उसी आत्मा को सर्वज्ञ या सर्वदर्शी कहा जाता है।

यदि ऐसा कहा जाय कि सर्वथा कर्म किस प्रकार आत्मा से पृथक् हो सकते हैं? तो इसके उत्तर में कहा जा

सक्ता है कि जब आत्मा के आश्रव द्वारों का संवर के द्वारा निरोध किया जायगा तब नूतन कर्मों का आगमन तो निरोध हो ही जायगा परंतु जो प्राचीन शेष कर्म रहते हैं वे स्वाध्याय और ध्यान तप के द्वारा क्षय किये जा सक्ते हैं।

सो जब सर्वथा आत्मा कर्मों से रहित हो जायगा तब इसको निर्वाण पद की प्राप्ति अवश्य होजायगी।

क्योंकि यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि:— "ध्याता, ध्येय, और ध्यान" ये तीन होते हैं परंतु जब आत्मा ध्येय में तल्लीन होजाता है तब वह तीनों से एक ही रह जाता है। जिस प्रकार कल्पना करो कि किसी व्यक्ति के स्वकीय पुत्र को विद्या अध्ययन कराता है तब वह तीनों को एकत्र करना चाहता है। जैसे कि – एक विद्यार्थी और दूसरा पुस्तक तीसरा अध्यापक। जब वह विद्यार्थी पढ़कर अध्यापक की परीक्षामें उत्तीर्ण होजाता है तब वह पूर्व तीनों पदों का धारण करनेवाला स्वयं ही बन जाता है। ठीक उसी प्रकार जब ध्याता ध्येय में तल्लीन होजाता है तब वह तद्रूप ही होजाता है।

जिस प्रकार एक दीपक के प्रकाश में सहस्रों दीपकों का प्रकाश एक रूप होकर ठहरता है ठीक उसी प्रकार ध्याता, ध्येय में तल्लीन होजाता है।

अतएव स्मृति रखना चाहिये कि जबतक आत्मा उस स्वाश्रय अवलम्बन नहीं करता तबतक इसका आत्मविकास भी नहीं हो सकता। जब आत्मविकास न हुआ तब इस आत्मा को निर्वाण पद की प्राप्ति किस प्रकार मानी जा सकती है? सो इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि आत्मविकास करने के लिये स्वावलम्बन अवश्यमेव होना चाहिये। क्योंकि जिन २ सुखों का आनन्द इससे अनुभव कर सकता है उन २ सुखों के अनंतवें भाग मात्र भी संसारी आत्मा सुखों का अनुभव नहीं कर सके। क्योंकि जो सूर्य का स्वाभाविक प्रकाश है उसके सदृश सहस्रों दीपकों का प्रकाश भी नहीं हो सकता। क्योंकि यह प्रकाश कृत्रिम है और सोपाधिक है। सूर्य का प्रकाश स्वाभाविक और निरुपाधिक है।

अत शुभ भावनाओं और ध्यान समाधि द्वारा आत्म विकास करना चाहिये जिससे आत्मा को अक्षय सुख के अनुभव करने का सौभाग्य प्राप्त हो जावे।

वास्तव में जिन आत्माओंने आत्मा को ही ध्येय बना लिया है वे आत्माएं अपनी क्रियाओं से कृतकृत्य होकर निर्वाण पद की प्राप्ति कर गई हैं। इसी प्रकार अन्य आत्माओं को भी उनका अनुकरण करना चाहिये जिससे वे भी निर्वाण पद की प्राप्ति करने में समर्थ बन सकें।

पाठ ग्यारहवाँ ।

पिता पुत्र का संवाद ।

पुत्र।—पिताजी ! पुत्र के प्रति पिताजी का क्या कर्तव्य है ?

पिता — मेरे परम प्रिय पुत्र ! पिता का पुत्र के प्रति यह कर्तव्य है कि वह पुत्र की यथोक्त विधि से रक्षा करे ।

पुत्र — पूज्य पिताजी ! यथोक्त विधि से रक्षा किसे कहते हैं ? मैं इसे समझ नहीं सक्ता ।

पिता — मेरे प्यारे सुनु ! जिस प्रकार शास्त्रों ने पुत्र पालने के नियम प्रतिपादन किये हैं ठीक उन्हीं नियमों के द्वारा पिताओं का कर्तव्य है कि वे अपने पुत्रों की पालना या रक्षा करें ।

पुत्र — पिताजी ! शास्त्रों ने कौन २ से नियम पुत्र पालने या रक्षा करने के प्रतिपादन किये हैं । क्योंकि मैं उन नियमों को सुनना चाहता हू ।

पिता — पुत्र ! शास्त्रों ने दो प्रकार के नियम प्रतिपादन किये हैं जैसे कि —मुख्य और गौण किंतु शोक से कहना पडता है कि जो मुख्य गुण थे वे तो रूप में आगए हैं और जो गौणता

म गुण थ वे मुख्यता रूप में प्रविष्ट होगए हैं। इसीलिये पुत्रों का पालन यथोक्त विधि से आज वर्तमान काल में नहीं होता। प्रत्युत प्रतिकूल रक्षा होने से पुत्रों की रक्षा दुरवस्था रूपमें होगई है।

पुत्र — पिताजी ! मुझे यह तो कृपाकरके बतलाइये कि मुख्य रक्षा करने के नियम कौन २ से हैं और गौण गुण कौन २ से हैं ?

पिता — मेरे परम प्यारे पुत्र ! पिताओं का प्रथम यह कर्तव्य है कि वे अपने प्रिय पुत्रों को सदाचार और सद्विद्याओं द्वारा उनकी पालना करें किंतु गौणतारूप में खान पान वस्त्र आभूषण भोग और उपभोगादि द्वारा भी उनकी पालना करें। परन्तु वर्तमान काल में प्राय देखा जाता है कि प्राय गौण रूप जो नियम थे उनकी ओर तो विशेष ध्यान दिया जाता है और जो सदाचार और सद्विद्याओं द्वारा उनके जीवन को अलंकृत करना था उसकी ओर बहुत न्यून ध्यान देने में आता है।

पुत्र — पिताजी ! जब अच्छे २ वस्त्रों और आभूषणों से अपने पुत्रों को आभूषित किया जायगा तब वे बड़े ही सुंदर लगेंगे जिससे प्रत्येक व्यक्ति उनसे प्रेम करने की उत्कट इच्छा धारण करेगा साथ ही

लोगों में उस पिता की प्रशसा भी बढ जायगी कि देखो भाई ! अमुक पिता अपने पुत्रो को किस प्रकार प्रसन्न रखता है और धन प्राप्त करने की सफलता भी उसी को है जो अपने प्यारे पुत्रो की माग शीघ्र पूरी कर देता है । अत यही नियम पालन करने के मुरय हो सक्ते हैं क्योंकि जब धनाढय कुल में उत्पन्न होने पर भी न तो उन बालको को उनकी इच्छानुकूल भोजन ही मिलता है और न सुदर वस्त्र तथा आभूपण पहिनने को उपलब्ध होते हैं तो भला फिर धनाढय कुल में उत्पन्न होकर उन बालकोंने क्या लाभ प्राप्त किया ?

पिता —पुत्र ! तू अभी अनभिज्ञ है। तुझे खबर नहीं कि उक्त कारणों से क्या २ दोप उत्पन्न होते हैं ।

पुत्र —पिताजी ! उक्त नियमा के सेवन करने से क्या २ दोप उत्पन्न होते हैं, मुझे आपही कृपा करके सुनाइये ?

पिता —हे पुत्र ! जब बालको को सदैवकाल सुन्दर वस्त्रों वा आभूपणों से विभूपित किया जायगा तब उनमें निम्न लिखित दोप उत्पन्न होने की सभावना की जा ... । जैसे कि यदि बालक अत्यन्त

को प्राप्त होरहा है तब तो कोई दुष्ट आत्मा धन और वस्त्रों का लोभी उस बालक के आभूषण या वस्त्र उतारकर लेजायगा। तथा कोई अनार्य भाव को प्राप्त होकर उस बालक को प्राणों से ही विमुक्त कर देगा अर्थात् मार देगा। तथा कोई दुष्ट मनुष्य उस बालक को हरणही कर लेजायगा। इत्यादि आभूषणों व वस्त्रों द्वारा अनेक कष्टों का सामना उस बालक को करना पड़ेगा।

साथही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि जब उस कोमल शरीरवाले बालक को विभूषित किया जाता है तब उस बालक पर काम राग के आवेगी जन उस बालक को कदाचार में प्रवृत्त करादेंगे जिससे उस बालक का सदाचार कुछ समय के पश्चात् ही नष्ट भ्रष्ट होजायगा। अतएव कुछ महत्वता के समयों को छोड़कर सदैव काल बालकों को विभूषित करते रहना बालकों के पवित्र जीवन को कदाचार में प्रवृत्त कराने का हेतु बन जाता है।

अतएव पिताओं को योग्य है कि वे अपने प्रिय पुत्रों को विद्या और सदाचार से विभूषित करने की चेष्टाएं करते रहें।

तथा यदि सुख सागर भी बालकों को दिया जायगा तब वे बालक बहुतही शीघ्र कदाचार में प्रवृत्त होजायेंगे जैसे

कि—जब उनको उनकी इच्छानुसार धन का लाभ मिलता रहता है तब उस धन के भोगने के लिये उसके मित्रगण भी एकत्र होजाते हैं जिससे फिर मित्र मडली उसी को दुष्टाचार म लगा देती है।

इसलिये परिमाण मे अधिक बालकों को खरच देना लाभ के स्थान पर एक प्रकार की हानि का कारण बन जाता है।

हा, यह बात भी अवश्य विचारणीय है कि यदि सर्वथा हा उन बालकों को कुछ भी न दिया जाय तब भी वे बालक दुराचार में प्रविष्ट होजायेंगे क्योंकि जब उनको उनकी आवश्यकीय आवश्यकतानुसार तो खरच घर मे उपलब्ध होता ही नहीं तब वे अपने मित्रों से खरच लेने की चेष्टा करेंगे जिससे फिर वे प्रसगानुसार वा अपनी आवश्यकताए पूरी करने के लिये अवश्यही कुमार्ग मे प्रविष्ट होजायेंगे तथा कुसंग म फस हुए फिर वे सर्वथा माता पिता की आज्ञा मे ही बाहिर दिखायेंगे।

इसलिये पिताओं को योग्य है कि वे अपने प्रिय पुत्रों की यथोक्त रीति से पालना करें जिससे उनकी आवश्यकीय आवश्यक्ताए तो पूरी होतीं रहें और सदाचार वा विद्या की वृद्धी भी होती रहे।

पुत्र:—पिताजी ! सदाचार किस कहते हैं ?

पिता – पुत्र ! जिससे अपना जीवन सा सुख पूर्वक व्यतीत किया जा सके और धर्म की वृद्धि होती रहे तथा धार्मिक जीवन से फिर स्वर्ग या निर्वाण पद की प्राप्ति भी होजावे।

पुत्र —पिताजी ! व नियम कौन २ से हैं कि जिनसे दोनों लोगों की शुद्धि होजाती है ?

पिता —पुत्र ! यदि तू उन नियमों को सुनना चाहता है तो तू ध्यान देकर सुन। जिनसे दोनों लोगों की भली प्रकार शुद्धि हो सकती है।

पुत्र —पिताजी ! मैं ध्यान देकर आपके पवित्र उपदेश को सुनता हू, आप सुनाइये।

पिता —पुत्र ! प्रथम तो बालकों को अपने पवित्र जीवन बनाने के लिये काया की शुद्धि करनी चाहिये। उन्हें बिना यत्न से बड़ों के सामने न बैठना चाहिये और जिस प्रकार अपने वृद्धों की व माता पिता का अविनय न होवे उसी प्रकार उनके सामने बैठना चाहिये। प्रात काल अपनी शय्या से उठते ही माता पिता व वृद्धों को नमस्कार करते हुए उनके चरण कमल का स्पर्श करना चाहिये।

क्योंकि इस प्रकार की क्रियाएं करते हुए उनके मुख से जो आशिर्वाद के उद्गार निकलते हैं वे उन बालकों को अत्यंत सुखप्रद होते हैं।

तदनु सब प्रकार की कायिक चेष्टाएं जो की जायं व सब विनय पूर्वक वा यत्न पूर्वक होनी चाहिये। जब काया शुद्धि ठीक होजाय तब फिर बालकों को वागशुद्धि भी करना चाहिये। जैसे कि कभी भी मुख से गाली न निकालनी चाहिये क्योंकि गाली के निकालने से एकतो अपना मुख अपवित्र होता है दूसरे जो उस गाली को सुनते हैं वे इस प्रकार के अपने अन्तःकरण में भाव उत्पन्न करते हैं जो उस बालक के लिये सुखप्रद नहीं होते।

इसलिये जब बोलने का समय उपस्थित हो जाय तब मधुर भाषी बनना चाहिये।

तथा यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि स्नेह और प्रीति पूर्वक भाषण किया हुआ शब्द प्रत्येक व्यक्ति को वश करने में सामर्थ्यता रखता है।

तथा मधुर भाषी बालक में प्रत्येक व्यक्ति प्रेम दृष्टि धारण कर लेता है, इतना ही नहींकिंतु उस बालक की रक्षा करने में कटिबद्ध होजाता है।

अतएव विनय पूर्वक मधुर भाषी प्रत्येक बालक को होना चाहिये तथा अपने मुख से कभी भी असत्य वचन न बोलना चाहिये।

इसमें देखा जाता है कि बहुत से बालकों का स्वभाव होता है कि वे काम तो आप बिगाड़ बैठते हैं और जब उनसे पूछा जाता है तब वे अपनी निर्दोषता सिद्ध करने के लिए किसी और का नाम ले बैठते हैं सो यह काम अत्यन्त अनुचित है। इससे फिर उस बालक पर से प्रत्येक व्यक्ति का विश्वास उठजाता है। इसलिये बाल्यपन से ही झूठ या किसी का कहने का अभ्यास न डालना चाहिये। साथ ही इस बातका भी विचार रखना चाहिये कि मेरा किस २ के साथ किस २ प्रकार का सम्बन्ध है। फिर उस सम्बन्ध को उसी प्रकार विनय से पालन करना चाहिये।

जहांतक हो सके अल्प व मधुर भाषी बनने का स्वभाव डालना चाहिये।

जिस प्रकार वाग्शुद्धि का वर्णन किया गया है उसी प्रकार मन–शुद्धि का भी वर्णन जान लेना चाहिये।

जैसे कि मनोवृत्ति से किसी की ईर्षा न करनी चाहिये यदि किसी समय कोई वस्तु मांगने पर भी उपलब्ध न हो तो उस समय क्रोध के वशीभूत होकर नाना प्रकार

अपशब्द मुख से निकालने या किसी प्रकार से भी क्रोध का परित्याग न करना इत्यादि क्रियाएँ बालकों को कदापि नहीं करनी चाहिये।

क्योंकि इस प्रकार का स्वभाव यदि पड जायगा तब वह आयुभर मे भी नहीं जा सकेगा।

साथ ही बालकों को योग्य है कि वे माता पिता आदि के सामने कदापि मिथ्याग्रह से वस्तु की प्राप्ति करने की चेष्टाएँ न करें और साथ ही इस बात का भी ध्यान रखें कि जब प्रत्येक पदार्थ खाने योग्य अपने घर से उपलब्ध हो सक्ता है तो फिर क्यों बाजारादि से लाकर खाने का स्वभाव डालें। क्योंकि प्राय देखा जाता है कि बाजारादि के पके हुए पदार्थ घृतादि की शुद्धि न होने के कारण मे रोगादि की उत्पत्ति का कारण बन जाते हैं जिससे एक वार का विगड़ा हुआ स्वास्थ्य बहुत चिरकाल के पश्चात् ठीक होने का कारण वन जाता है।

जब बाजारादि का खाने का स्वभाव हट जायगा तब व्यर्थ व्यय और व्यभिचारादि बहुत से कुकृत्यों से भी बचने का सौभाग्य प्राप्त होजायगा।

पुत्र—पिताजी ! यह तो आपने सदाचार के इहलौकिक के नियम बतलाये हैं जिनके पालने से प्राय शारीरिक दशा ठीक रह सक्ती है। अब आप उन नियमों की

शिक्षा दीजिये कि जिनके पालन से दोनों लोक में सुख की प्राप्ति होजाती है।

पिता—मेरे परम प्रिय पुत्र ! अब मैं तुमसे उन्हीं नियमों का वर्णन करता हू कि जिनके पालनेसे दोनों लोक में शांति मिल सक्ती है।

प्रत्येक बालक को सात व्यसनों का परित्याग करना चाहिये क्योंकि व्यसन नामही कष्ट का है सो सात कारण कष्ट के उत्पन्न होने के बतलाये गए हैं जैसे कि—

१ जुवा—किसी प्रकार का भी जुआँ न खेलना चाहिये। क्योंकि इसका फल दोनों लोक मे दु खप्रद कथन किया गया है। तथा इसी लोक में जुआरी कौन २ से कष्टों का सामना नहीं करता ? अर्थात् सभी कष्ट जुआरी को भोगने पडते हैं। सो अनुमान से अनुमेय का ज्ञान हो जाता है। अत जिसका फल यहा पर दु खप्रद ही दिख रहा है तो फिर वह परलोक में सुखप्रद किस प्रकार माना जा सक्ता है।

तथा जुआँरी कौन से अकार्य करने की चेष्टा नहीं करता अतएव जुआँ कदापि न खेलना चाहिये।

साथही इस बात का ध्यान भी रक्खा जाय कि जिन २ क्रीडाओं के खेलने से केवल समय ही व्यर्थ जाता हो वे खेल न खेलने चाहिये। जैसे कि—चोपड, तास, सा

पासादि। क्योकि इनके खेलने से समय तो व्यतीत अत्यत होजाता है परतु लाभ कुछ नहीं होता।

* **मास** —जिन पदार्थो के खाने, से निर्दयता बढती हो और अनाथ प्राणि अपने प्रिय प्राणों से हाथ धो बैठते हो इस प्रकार के पदार्थ भक्षण न करने चाहिये।

क्योंकि यह बात भली प्रकारसे मानी हुई है कि मासाहारी को दया कहा है ? तथा मासाहार रोगों की वृद्धि भी करता है और न यह (मासाहार) मनुष्य का आहार ही है।

क्योंकि जो पशु मासाहारी हैं और जो पशु घासाहारी हैं तथा पशु व मनुष्य इन के शरीरोंकी आकृतियों में विभिन्नता प्रत्यक्ष दिखाई पडती है। सो मास का आहार कदापि न करना चाहिये।

६ **शिकार** —निरपराधी जीवों को मारते, फिरते रहना क्या योग्यता का लक्षण है ? कदापि नहीं। इसलिये शिकार न खेलना चाहिये। इतना ही नहीं हासी या कौतुहल के वशीभूत होकर भी किसी जीव के प्राण न छीनने चाहिये।

पुत्र —पिताजी ! जो अपने वस्त्रों या केशों में जू आदि जीव पड जाते हैं तो क्या उनको भी न मारना चाहिये ?

पिता —पुत्र ! उनको भी न मारना चाहिये।

पुत्र —पिताजी वे जीव तो हम दु ख देते हैं फिर उन्हें क्यों न मारना चाहिये।

पिता —पुत्र ! वे जीव अपनी असावधानी के कारण से ही प्राय उत्पन्न होते हैं तो भला यह किधर का न्याय है कि प्रमाद तो आप करें और दंड उन जीवों को ? इससे स्वत सिद्ध है कि यदि सब काम सावधानता पूर्वक किये जॉय तो जीवोत्पत्ति बहुत ही स्वल्प होती है। इसलिये जूं आदि जीवों का कदापि न मारना चाहिये। परंतु यत्न पूर्वक जिस प्रकार उनके प्राणों की रक्षा हो सके उसी प्रकार अन्य वस्त्रादि में उन्हें रख देना चाहिये।

पुत्र —पिताजी ! जू आदि के कहने से मैं यह नहीं समझा कि आदि के कहने से आपका कौन २ से जीवों से सम्बन्ध है ?

पिता —पुत्र ! आदि के कहने से यावन्मात्र त्रसजीव हैं। उन सबों का ग्रहण किया जाता है। सो निरपराधी किसी भी जीव को जानकर प्राण न छीनने चाहिये।

क्योंकि जब दयायुक्त भाव बने रहेंगे तब प्राणी सद्विद्या और सदाचार से विभूषित होता हुआ अपने और पर के कल्याण करने में समर्थ हो जायगा।

यद्यपि शिकार (आखेट) शब्द वनचारी जीवों के लिये ही लोक रूढि में व्यवहृत होता है किंतु किसी भी जीव के प्राणों का उच्छेदन करना इसी कर्म में गिना जाता है।

अतएव सिद्ध हुआ कि शिकार न खेलना चाहिये।

४ मद्य —मदिरा पान करना भी अयोग्य कथन किया गया है क्योंकि यावन्मात्र मादक द्रव्य हैं वे सब सद्बुद्धि के विध्वंस के हेतु ही माने जाते हैं। अतएव सुयोग्य व्यक्तियों को योग्य है कि वे मादक द्रव्यों का कदापि सेवन न करें।

मदिरा पान के दोष लोक में सुप्रसिद्ध ही हैं। भाग चरस, तमाखू, सिगरेट सिगार आदि यावन्मात्र तमोगुणी पदार्थ हैं उनका सेवन करना दोनों लोक में दुःखप्रद माना गया है। क्योंकि इस लोक में इन के सेवन से धन का नाश तथा दुराचार की प्रवृत्ति देखी जाती है और परलोक में निकृष्ट कर्मों का फल दुःखप्रद होता ही है।

अतएव यावन्मात्र तमोगुणी और मादक द्रव्य हैं उनका सेवन कदापि न करना चाहिये।

५ वेश्या —जिस प्रकार जगत में मादक द्रव्य हानि करते दिखाई देते हैं ठीक उसी प्रकार वेश्या संग भी इस लोक [illegible] में दुःखप्रद माना गया है।

तथा यह बात भी भली प्रकार से, मानी गई है कि जो व्यक्ति वैश्या सग करते हैं उनकी पवित्रता और सदाचारता सर्वथा नष्ट हो जाती है। साथही वे नाना प्रकार के रोग भी उस स्थान से ले आते हैं। बहुत से व्यक्तियों का जीवन भी कष्ट-मयी हो जाता है और फिर वे अपने पवित्र जीवन से भी हाथ धो बैठते हैं।

अब विचार इसी बातका करना है कि जब उनका पवित्र जीवन वैश्या सग से इसी लोक में कष्टमय होता है तो भला परलोक म वे सुखमय जीवन के भोगने वाले कैसे माने जा सक्ते हैं।

अतएव वैश्या सग कदापि न करना चाहिये।

६ परस्त्री सग—जिस प्रकार वैश्या सग दोनों लोक म दुःखप्रद माना गया है ठीक उसी प्रकार परस्त्री सग भी दोनों लोक में कष्ट देनेवाला माना गया है। इसके सग का परिणाम सर्वत्र सुप्रसिद्ध है तथा परदारा सेवी को जिन २ कष्टों का सामना करना पडता है वे कष्ट जनता से भूले हुए नहीं हैं क्योंकि राज्यकीय धाराए इन्हीं पापों के सेवन करने वालों के लिये बनाई गई हैं। साथही शास्त्रों में परदारा सेवी की गति नरकादि प्रतिपादन की गई है। अतएव विचार शील व्यक्तियों को योग्य है कि वे कदापि उक्त व्यसन का सग न करें।

७ चौर्य कर्म —बिना आज्ञा किसी की वस्तु को उठा लेना उसे ही चोरी कर्म कहते हैं। सो इसका परिणाम सब लोग जानते ही हैं। अतएव बिना आज्ञा किसी भी पदार्थ के उठाने की इच्छा न करनी चाहिये।

साथ में इस बातका भी ध्यान रखना चाहिये कि जब अपने साथ में वस्तु का संयोग है तो भले सहस्रों ही विघ्न उपस्थित क्यों न होजाय तदपि उस पदार्थ का संयोग अवश्यमेव मिल जायगा। किंतु जब अपने भाग्य में पदार्थों का संयोग नहीं है तो फिर चौर्य कर्म से क्या फल मिलेगा? अर्थात कष्ट। अतएव स्वकीय पुण्य और पाप के फलों का विचार कर उक्त व्यसन से निवृत्ति कर लेनी चाहिये।

अतएव हे पुत्र! उक्त कथन किये हुए सात ही व्यसनों से प्रत्येक प्राणी को पृथक रहना चाहिये जिससे दोनों लोक में सुख की प्राप्ति हो सके।

पुत्र —पिताजी, वाणी कैसी बोलनी चाहिये?

पिता —हे पुत्र! वाणी सदा मीठी और सत्य बोलनी चाहिये।

पुत्र —पिताजी! सत्य वचन बोलने से किस गुण की प्राप्ति होती है?

पिता —पुत्र! सत्य बोलने से एक तो आत्मा का हृदय [illegible]ता है दूसरे छल आदि क्रियाओं से

आत्मा बच जाता है तृतीय सत्यवादी आत्मा की
देवता भी सेवा करते हैं और लोक में उनकी प्रतीति
(विश्वास) होजाती है। अतएव सदा सत्य वचन
बोलना चाहिये।

पुत्र —पिताजी! भाइयों के साथ परस्पर बर्ताव कैसा
रखना चाहिये?

पिता —मेरे प्रिय सुत! अपने भाइयों के साथ परस्पर
प्रेम पूर्वक बर्ताव रखना चाहिये। परस्पर ईर्षा व
असूया कदापि न करना चाहिये। जब कोई समय
कष्ट का उपस्थित होजाय तब परस्पर सहानुभूति
द्वारा उस समय को व्यतीत करना चाहिये। क्योंकि
यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि जब कष्ट
का समय उपस्थित होता है तब परस्पर क्लेश भी
उत्पन्न हो जाया करता है किंतु जब प्रेम परस्पर
रहता है तब वह कष्ट भी कष्ट दायक प्रतीत नहीं
होता। सो इससे सिद्ध हुआ कि भाइयों के साथ
परस्पर प्रेम से बर्तना चाहिये।

पुत्र —पिताजी! मित्रों के साथ किस प्रकार बर्तना चाहिये?

पिता —पुत्र! मित्रता प्राय साधर्मी या सदाचारियों के
साथ ही होनी चाहिये और उसके साथ प्रेम

वर्तना चाहिये तथा जिस प्रकार मित्रता परस्पर रह सके उसी प्रकार वर्तना चाहिये, ये बातें भी ध्यान में रखनी चाहिये। लोभी और कामी मित्रता कभी भी नहीं रह सकती।

पुत्र:—पिताजी ! क्या मित्र पर विश्वास रखना चाहिये या नहीं ?

पिता:—पुत्र ! बिना-विश्वास किये यह मित्रता ही क्या है ! हां, विश्वास उस समय तक न होना चाहिये जबतक मित्र की परीक्षा नहीं कीगई तथा उसका परिचय भली प्रकार से नहीं किया गया। परन्तु जब वह परीक्षा में समुत्तीर्ण हो चुका है फिर वह विश्वासपात्र अवश्य-मेव बनगया है।

तथा इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि मित्रता स्वार्थत्याग कर ही रह सक्ती है, और निःस्वार्थ मित्रता आयु पर्यंत रह सक्ती है। अपने किये हुए प्रण का पालन करना ही सुपुरुषों का लक्षण है।

पुत्र—पिताजी ! धर्मपत्नी के साथ किस प्रकार वर्तना चाहिये ?

पिता:—पुत्र ! धर्मपत्नी के साथ मर्यादा और प्रेम पूर्वक जिस प्रकार स्वगृह में क्लेश उत्पन्न

न हो जावे उसी प्रकार वर्तना चाहिये। विवाह
के समय जो वर और कन्याओं की परस्पर
प्रतिज्ञाए की जाती हैं उन प्रतिज्ञाओं की सावधानता
पूर्वक पालन करना चाहिये। साथ में इस बात का
भी विशेष ध्यान रक्खा जाय कि जब मैं स्वधर्मपत्नी
को कदाचार से बचने की विशेष चेष्टाए करता
रहता हू तो फिर मुझे भी उस कदाचार से पृथक
रहना चाहिये क्योंकि जब मेरा सदाचार ठीक
होगा तब उसका प्रभाव मेरी धर्मपत्नी पर
अवश्यमेव पड़ेगा।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि स्वधर्मपत्नी के साथ
मर्यादा वा प्रमाण पूर्वक ही वर्तना चाहिये। तथा जिस
प्रकार परस्पर द्वेश वा स्वच्छदता न बढने पाय उसी प्रकार
बर्तना चाहिये।

पुत्र –पिताजी! सतती के साथ किस प्रकार वर्तना चाहिये।

पिता –मेरे परम प्रिय पुत्र। अपनी सतति के साथ प्रेम से
वर्तना चाहिये। परतु इस बात का ध्यान अवश्य
मेव रक्खा जाय कि जिस प्रकार अपनी सतति
कदाचार में प्रविष्ट न होजाय उसी प्रकार सुज्ञ पुरुष
को उनके साथ वर्तना योग्य है। परतु अपने प्रिय
पुत्र या कन्याओ को कभी भूलकर भी गाली

साथ आमन्त्रित न करना चाहिये। क्योंकि जब उनको गाली से सम्बोधित किया जायगा तब उनका भी उसी प्रकार का स्वभाव पड जायगा जिसका परिणाम अतिम दुःख प्रद प्रतीत होगा। अर्थात फिर उस पुत्र वा पुत्री के स्वभाव से परम दुखित बनना पडेगा।

पुत्र —पिताजी। जो अपने सम्बन्धी जन हैं उनके साथ किस प्रकार का व्यवहार रखना चाहिये।

पिता -पुत्र! उनके साथ सद्व्यवहार रखना चाहिये। यदि उन सम्बन्धीजनों पर कोई विपत्तिकाल उपस्थित होजाय तो यथाशक्ति और यथा समय उनकी सहायता करनी चाहिये। किंतु यह बात ध्यान म अवश्य रक्खी जाय कि सहायता अपनी शक्ती अनुसार करते हुए फिर उनमें वैमनस्य भाव उत्पन्न न किया जाय।

पुत्र —पिताजी! अपने [गण] बिरादरी के साथ किस प्रकार बर्तना चाहिये?

पिता -पुत्र! गण के साथ परस्पर सहानुभूति के साथ बर्तना चा[illegible] गणवासी किसी भाई पर [illegible] होगया हो तो उस समय

सहानुभूति द्वारा उसकी रक्षा करनी चाहिये क्योंकि इस प्रकार करने से गण के बल की वृद्धी होती है और सहानुभूति द्वारा प्रेम माता भी बढ़ जाती है जिसके कारण से फिर सर्व प्रकार की वृद्धि होती रहती है।

पुत्र –पिताजी ! बड़ा कौन हो सक्ता है ?

पिता –हे पुत्र ! जो सर्व प्राणी मात्र के साथ प्रेम करता है वह सब से बड़ा होसक्ता है अर्थात वह सब का पूजनीय होजाता है। तथा व्याकरण शास्त्र में लिखा है कि स्ववर्णीय वर्ण ही दीर्घ होसक्ता है नतु अन्य वर्णीय। जैसे कि —यदि अ अ दो स्वर एक स्थान पर एकत्र होजाय तब दोनों का मिलकर एक दीर्घाकार होजाता है। इसी प्रकार इकार और उकारादि वर्णों के विषय में भी जानना चाहिये। सो हे पुत्र ! इसके कथन से यह शिक्षा उपलब्ध होती है कि स्वजाति प्रेम से ही वृद्धि पासक्ती है।

पुत्र –पिताजी। अपने सहपाठियों के साथ किस प्रकार से वर्ताव रखना चाहिये।

पिता –पुत्र। अपने सहपाठियों के साथ सदा प्रेम पूर्वक वर्तना चाहिये।

पिशुनता, द्रोह भाव, व असूयादि अवगुण कदापि वर्ताव में न लाना चाहिये। किन्तु जिस प्रकार विद्याभ्यास बढ़ता जाय उसी प्रकार उनके साथ वर्तना योग्य है॥

पुत्र-पिताजी! अपने अध्यापकों और महोपाध्यायों के साथ किस प्रकार बर्तना चाहिये?

पिता-पुत्र! अपने अध्यापकों और महोपाध्यायों के साथ विनय पूर्वक वर्तना चाहिये और पठनादि क्रियाओं के विषय में उनकी आज्ञा पालन करनी चाहिये। इतना ही नहीं किन्तु उनको विद्या गुरु वा शिल्पाचार्य समझते हुए उनकी मन, वचन और काय तथा धनादि द्वारा उनकी सेवा (पर्युपासना) करनी चाहिये। और उनके प्रति, अपनी कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिये।

पुत्र:—पिताजी! यावन्मात्र अपने सम्बन्धी हैं या भगिनी और भ्राता आदि हैं उनके साथ किस प्रकार वर्तना चाहिये।

पिता—हे प्यारे पुत्र! यावन्मात्र स्वकीय सगे सम्बन्धी हैं उनके साथ प्रेमपूर्वक और मर्यादा से वर्तना चाहिये। परस्पर विनय से [illegible]

सफलता देखी जाती है तथा उनके कष्टों के समय सहानुभूति भली प्रकार से दिखलाते हुए अहिंसा धर्म की प्रभावना भी की जासकि है। अतएव सिद्धांत यह निकला कि उचित व्यवहार रखते हुए सर्व कार्यो की सफलता भली प्रकार से की जा सकती है।

पुत्र —पिताजी ! जनता के साथ किस प्रकार से बर्तना चाहिये ?

पिता—पुत्र ! देश या कालके ज्ञान को भली प्रकार रखते हुए जनता के साथ प्रेम या मर्यादा पूर्वक बर्तना चाहिये परन्तु मिथ्या हठ या कदाग्रह कदापि न करना चाहिये क्योंकि जो लोग देश के काल के ज्ञान को भली प्रकार से नहीं जानते या कदाग्रही हैं वे कदापि जाति या धर्मोन्नति नही कर सके। अतएव सिद्ध हुआ कि मिथ्या हठ को छोड़कर केवल देश कालज्ञ बनना चाहिये।

पुत्र —पिताजी ! सत्विद्या किसे कहते हैं ?

पिता —जिस विद्या के पढने से पदार्थों का ठीक २ बोध होजाय।

पुत्र —पिताजी ! पदार्थों के ठीक २ बोध हो जाने से फिर किस गुण की उपलब्धि होती है ?

पिता—पुत्र ! पदार्थों के ठीक२ बोध होजाने से फिर तीन गुण की प्राप्ति हो जाती है।

पुत्र—पिताजी ! वे तीन गुण कौन२ से हैं ? क्योंकि मैं उनको सुनना चाहता हूं।

पिता—हे मेरे परम प्रिय सुनु ! यदि तू सुनना चाहता है तो तू सुन। जानने योग्य पदार्थ, त्यागने योग्य पदार्थ और धारण करने योग्य, इन पदार्थों का यथार्थ बोध होजाता है।

पुत्र—पिताजी ! मैं इन तीनों का स्वरूप विस्तार पूर्वक सुनना चाहता हूं।

पिता—पुत्र ! मैं तुम को फिर कभी अवकाश मिलने पर इसका विस्तार पूर्वक स्वरूप सुनाऊंगा परंतु अब तो मैं संक्षेप पूर्वक ही इनका स्वरूप सुनाना चाहता हु सो तू ध्यान देकर सुन। जीव और अजीव तथा पुण्यरूप कर्म को इन तीन पदार्थों के स्वरूप को भली भांति जानना चाहिये। क्योंकि जब इनका यथार्थ ज्ञान होजायगा तब आत्मा सम्यक्त्व से युक्त होजाता है। अतएव ये तीनों पदार्थ ज्ञेय—जानने योग्य कथन किये गये हैं। परंतु पाप आश्रव और बंध ये तीनों पदार्थ त्यागने योग्य हैं। कारण कि

सफलता देखी जाती है तथा उनके कष्टों के समय, सहानुभूति भली प्रकार से दिखलाते हुए अहिंसा धर्म की प्रभावना भी की जासक्ति है। अतएव सिद्धात यह निकला कि उचित व्यवहार रखते हुए सर्व कार्यों की सफलता भली प्रकार से की जा सक्ती है।

पुत्र —पिताजी ! जनता के साथ किस प्रकार से वर्तना चाहिये ?

पिता —पुत्र ! देश या कालके ज्ञान को भली प्रकार रखते हुए जनता के साथ प्रेम या मर्यादा पूर्वक वर्तना चाहिये परन्तु मिथ्या हठ या कदाग्रह कदापि न करना चाहिये क्योंकि जो लोग देश के काल के ज्ञान को भली प्रकार से नहीं जानते या कदाग्रही हैं वे कदापि जाति या धर्मोन्नति नहीं कर सके। अतएव सिद्ध हुआ कि मिथ्या हठ को छोडकर केवल देश कालज्ञ बनना चाहिये।

पुत्रः—पिताजी ! सम्यविद्या किसे कहते हैं ?

पिता —जिस विद्या के पढने से पदार्थों का ठीक २ बोध होजाय।

पुत्र —पिताजी ! पदार्थों के ठीक २ बोध हो जाने से फिर किस गुण की उपलब्धि होती है ?

पिता—पुत्र ! पदार्थों के ठीक २ बोध होजाने से फिर तीन गुण की प्राप्ति हो जाती है।

पुत्र—पिताजी ! वे तीन गुण कौन २ से हैं ? क्योंकि मैं उनको सुनना चाहता हूं।

पिता—हे मेरे परम प्रिय पुत्र ! यदि तू सुनना चाहता है तो तू सुन। जानने योग्य पदार्थ, त्यागने योग्य पदार्थ और धारण करने योग्य, इन पदार्थों का यथार्थ बोध होजाता है।

पुत्र—पिताजी ! मैं इन तीनों का स्वरूप विस्तार पूर्वक सुनना चाहता हूं।

पिता—पुत्र ! मैं तुम को फिर कभी अवकाश मिलने पर इसका विस्तार पूर्वक स्वरूप सुनाऊंगा परन्तु अब तो मैं संक्षेप पूर्वक ही इनका स्वरूप सुनाना चाहता हुं सो तू ध्यान देकर सुन। जीव और अजीव तथा पुण्यरूप कर्म को इन तीन पदार्थों के स्वरूप को भली भांति जानना चाहिये। क्योंकि जब इनका यथार्थ ज्ञान होजायगा तब आत्मा सम्यक्त्व से युक्त होजाता है। अतएव ये तीनों पदार्थ ज्ञेय—जानने योग्य कथन किये गये हैं। परन्तु पाप आश्रव और बंध ये तीनों पदार्थ त्यागने योग्य हैं। कारण कि

पाप कर्म और आस्रव जिसके द्वारा पाप कर्मों का आगमन हो तथा बन्ध जिससे आत्म प्रदेश कर्मों से और निरंतर एक रूप होजाय ये तीनों पदार्थ त्यागने योग्य हैं किन्तु जिससे कर्मों का आगमन बंद होजाय अर्थात् सम्बर और निर्जरा जिससे कर्म क्षय किये जासकें और मोक्ष ये तीनों पदार्थ धारण करने योग्य हैं।

इसलिये सद्विद्याओं द्वारा उक्त पदार्थों का बोध अवश्य करना चाहिये जिससे आत्मा अपना कल्याण भी कर सके।

पुत्र —पिताजी! क्या इन पदार्थों के जानने से गृहस्थाश्रम का पालन भी हो सक्ता है?

पिता —पुत्र! युक्ति से धारण किया हुआ गृहस्थाश्रम को युक्ति पूर्वक निर्वाह कर सक्ता है।

पुत्र —पिताजी! ये भी मुझे समझा दीजिये कि युक्ति पूर्वक किस प्रकार गृहस्थाश्रम का पालन किया जासक्ता है।

पिता —पुत्र! जिन जिन कामों में अधिक हिंसादि क्रियाएं लगती हों उनका और अनर्थादंड का परित्याग करके गृहस्थाश्रम सुख पूर्वक निर्वाह किया जासक्ता है। जैसे कि —स्वदेशी आहार, स्वदेशी औषध और

स्वदेशी वेषादि द्वारा सुख पूर्वक निर्वाह करते हुए गृहस्थाश्रम के सुख पूर्वक नियम पालन किये जासक्ते हैं।

पुत्र—पिताजी! इन तीनों के अर्थ मुझे समझा दीजिये।

पिता—पुत्र! ध्यान देकर सुन। हे मेरे परम प्रिय पुत्र! जिस देश के जल, वायु और पदार्थों के संयोग से शरीर की उत्पत्ति होती है फिर प्राय उसी देश के स्वच्छ पदार्थों के सेवन (आहार) से शरीर की सौंदर्यता तथा बल की वृद्धि सुखकर होती है इसलिये स्वदेशी पदार्थों के आहार से अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिये। साथ ही जिन पदार्थों के आसेवन से क्षण मात्र तो सुख प्रतीत होने लगे परन्तु उनका अतिम परिणाम हितकर न होवे तो वे पदार्थ स्वदेश में उत्पन्न होने पर भी सेवन के योग्य नहीं हैं। जैसे कि—उष्ण काल मे बहुत से लोग पानी के बर्फ का सेवन करते हैं सो इसका सेवन दोनों प्रकार से अयोग्य प्रतीत होता है जैसे कि—जब धर्म शास्त्रों के नियमों की ओर विचार किया जाय तब भी इसका सेवन करना योग्य प्रतीत नहीं होता क्योंकि धर्मशास्त्र जल को ही जीव मानता है। जब जल का पिंड सेवन किया गया तब तो विशेष हिंसा का कारण बनगया इसलिये इसका सेवन करना योग्य नहीं है।

तथा दूसरे जिन औषधियों के प्रयोग से जल जमाया जाता है वे औषधिया रोगों के निवारण करने में सहायक नहीं होतीं अतः इसके सेवन से क्षणमात्र के सुख के सिवाय किसी प्रकार से भी शांति की प्राप्ति नहीं होती। इसीलिये सुज्ञ पुरुषों को योग्य है कि वे इसका सेवन कदापि न करे।

इसी प्रकार सोडावाटर की शीशियों के विषय में भी जानना चाहिये। इनका सेवन भी सुख प्रद नहीं देखा जाता क्योंकि रूक्ष पदार्थों के सेवन से मन की शुद्ध वृत्तिया नहीं रह सक्ती। जब मनकी वृत्तियां ठीक नहीं रहीं तो बतलाइये फिर कौनसा दु ख है जो फिर अनुभव नहीं करना पडता?

इसी प्रकार विदेशी खाड, विदेशी घृत इत्यादि अनेक प्रकार के पदार्थ हैं जो भक्षण करने के लिये स्वदेश में उपस्थित हैं उन सब से बचकर स्वदेशोत्पन्न सतोगुणयुक्त आर्य आहार द्वारा अपने पवित्र शरीर की पालना करना चाहिये।

जैसे कि कल्पना करो कि एक व्यक्ति पवित्र गोदुग्ध के द्वारा निर्वाह करता है और एक मदिरा पान द्वारा अपना पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहता है तो इसका परिणाम पाठकों पर ही छोडते हैं कि वे स्वय निर्णय करें कि किसका जीवन सुख पूर्वक व्यतीत हो सकेगा?

अतएव सिद्ध हुआ कि आर्य और भक्ष्य आहारादि के सेवन से सुख पूर्वक शरीरादि की रक्षा और धर्म का पालन किया जासक्ता है।

जिस प्रकार आर्य और भक्ष्य आहारादि द्वारा धर्म पूर्वक निर्वाह होसक्ता है ठीक उसी प्रकार स्वदेशी औषध के सेवन की भी अत्यत आवश्यक्ता है। क्योंकि जिस प्रकार स्वदेशी आहार शरीर की रक्षा में उपयोगी मानागया है ठीक उसी प्रकार स्वदेशी औषध भी शरीर की रक्षा मे परम उपयोगी कथन किया गया है। कारण कि जिस देश के जल वायु के सहारे जीवन व्यतीत किया जाता है ठीक उसी देश मे उत्पन्न हुए औषध भी शरीर को हितकारी माने गए हैं।

प्रत्यक्ष मे देखा जाता है कि स्वदेशी औषध के विना विदेशी औषध के सेवन से भक्ष्य और अभक्ष्य तथा पवित्रता और अपवित्रता का भी विवेक नहीं रह सक्ता। वा सवथा प्राय मूल मे रोग की निवृत्ति भी वे औषधि नहीं कर सक्ती। इसी कारण से प्राय जिस प्रकार औषधिया बढगई हैं उसी प्रकार रोग भी वृद्धि को प्राप्त होते जा रहे हैं।

क्योंकि स्वदेशी भोजन ही प्रमाण पूर्वक किया हुआ रोगों के शान्त करने में समर्थता रखता है। तो भला फिर स्वदेशी औषधि का तो कहना ही क्या है ?

तथा जो लोग रोगी को बलात्कार से भोजनादि क्रियाओं के कराने की चेष्टाएं करते हैं वे बडी भूल करते हैं, क्योंकि उनके मनमें यह बात बसी होती है कि रोगी को कुछ खा लेने से शक्ति आजायगी परन्तु वे इस बात की ओर ध्यान नहीं देते कि जब रोगी को शक्ति आजावेगी तो फिर क्या रोग को शक्ति नहीं आयगी अर्थात् अवश्यमेव आयगी।

अर्थात् जो रोग दस दिन म शांत होता होगा वह मास भर में भी शांत हो या न हो।

इसलिये रोग की दशा मे उपवास करना अत्यन्त लाभप्रद माना गया है तथा उपवास चिकित्सादि ग्रंथों में उपवासादि क्रियाओं का बड़ा महात्म दिखलाया गया है।

बडे से बडे रोग भी बहुत से रोगियों ने उपवासादि द्वारा शांत किये हैं।

अतएव लेख का साराश इतनाही है कि विशेष औषधियों के वश न पडते हुए केवल उपवासादि द्वारा ही रोगको शांत कर लेना चाहिये।

जिस प्रकार स्वदेशी औषधी हितकर है ठीक उसी प्रकार स्वदेशी वेष की भी अत्यंत आवश्यक्ता है क्योंकि स्वदेशी वस्त्र एकतो शुद्ध होता है और दूसरे चलने म विदेशी वस्त्र की अपेक्षा से अधिक समय पर्यंत चल सक्ता है।

-क्योंकि बहुत से विद्वानों का कथन है कि विदेशी वस्त्रों में बहुत से अपवित्र पदार्थों का प्रयोग किया जाता है।

अत स्वदेशी वस्त्रमें प्राय अपवित्र पदार्थों का प्रयोग नहीं किया जाता तथा स्वदेश का व्यय भी न्यूनतर होता है अतएव हे मेरे प्यारे पुत्र! स्वदेशी वेष या स्वदेशी वस्तुओं का देश हित के लिये अवश्यमेव प्रयोग करना चाहिये।

क्योंकि विद्वानों का कथन है कि जिस व्यक्ति का स्वदेशी पदार्थों से प्रेम नहीं है, वह व्यक्ति स्वभूमि का शत्रु माना जाता है।

तथा यदि पवित्र जीवन बनाना चाहते हो वा साधा जीवन व्यतीत करना चाहते हो तथा देश वा धर्मका अभ्युदय चाहते हो तो स्वदेशी पदार्थों का सेवन करना चाहिये।

पुत्र —पिताजी! यदि स्वदेशी पदार्थ किसी प्रकार की सजावट न कर सकें तो क्या फिर विदेशी पदार्थों का भी सेवन न करना चाहिये?

पिता —मेरे परम प्रिय पुत्र! निर्वाह करने में तो कोई पदार्थ बाधाजनक नहीं माना जासक्ता। किन्तु तृष्णा की पूर्ति के लिये स्वदेशी या विदेशी पदार्थ कोई भी अपनी सामर्थ्यता नहीं रखता। तथा जैन शास्त्रों के देखने से निश्चित होता है कि छट्ठे दिग्व्रत

या देशावगाशिक व्रत का मुख्योपदेश स्वदेशी पदार्थों का सेवन करनाही है। अतएव सर्व सुज्ञ जनों को योग्य है कि वे सवर व्रत के आश्रित होकर स्वदेशी पदार्थों के सेवन से अपने जीवन को पवित्र बनावे जिससे सुगति के अधिकारी, बन जावे। साथही इस बात का भी ध्यान रहे कि जिस देश में जिसका जन्म हुआ है उसी देश का उसके लिये प्राय जल वायु आदि हितकर होते हैं। अत प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह अपने उत्पन्न हुए देश के सम्बन्ध का यथाविधि पूर्वोक्त उपदेश का ध्यान रक्खे।

पाठ बारहवाँ।

कुप्रथाएँ।

प्रिय मित्रों! सुमार्ग मे चलने से ही प्रत्येक प्राणी सुखों का अनुभव कर सक्ता है। जिस प्रकार धूम्र शकटी (रेलगाडी) (वाष्प शकटी) स्वकीय रस्ता (लेन) पर चलती हुई अपने अभीष्ट स्थान पर सुख पूवक पहुच जाती है, ठीक उसी प्रकार जो व्यक्ति सुमार्ग पर चलता है वह सुख पूर्वक निर्वाण मार्ग पर आरूढ हो ही जाता है।

यदि वह धूम शकटी स्वगमन स्थान से स्खलित हो और तब वह अपनी वा जो उसपर आरूढ हो रहे हैं उन सभों की हानि करने की कारणीभूत बन जाती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति कुमार्गगामी होता है वह अपना या उसके अनुकरण करने वालों का सबका नाश करने का कारणभूत हो जाता है। क्योंकि कुमार्ग उसी का नाम है जिसपर चलने समय अनेक विपत्तियों का सामना करना पडे। अन्त में विपत्तियों में फसकर विपत्तिरूप ही होना पडे।

सुमार्ग उसी को कहते हैं कि जिसपर सुखपूर्वक गमन करते हुए अभीष्ट स्थान पर पहुचा जाय। ठीक इसी प्रकार आत्मा भी सुमार्ग पर चलता हुआ स्वकीय अभीष्ट स्थान निर्वाण होजाता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मनुष्यों के सुमार्ग या कुमार्ग कौन २ से हैं जिन्हों पर चलने से आत्मा सुख या दु खों का ठीक २ अनुभव कर सक्ता है और किस प्रकार आत्मा आत्म–विकास कर सकता है।

इस प्रकार की शंकाओं का समाधान इस प्रकार से किया जाता है कि जिस प्रकार साधुवृत्ति में उत्सर्ग वा अपवाद मार्ग कथन किये गए हैं और उक्त दोनों मार्गों के आश्रित होकर साधु अपना कल्याण कर सके हैं ठीक उसी प्रकार गृहस्थों के व्रतों में भी उक्त दोनो मार्ग लागू पडते हैं

परतु जो दोनों मार्गों का उल्लंघन कर चलते हैं उन्ह कुप्रथाए् वा कुमार्गगामी कहा जाता है जैसे कि —

वृद्ध-विवाहः—गृहस्थाश्रमवाले आत्मा गृहस्थावासमें निवास करते हुए विवाह आदि सस्कार किया ही करते हैं किंतु जो अनुचित वा व्यवस्था से विपरीत वृद्ध विवाहादि होते हैं वे गृहस्थाश्रम के विध्वसक माने जाते हैं क्योंकि उनके द्वारा जो २ विपत्तियाँ कुल म उत्पन्न होती हैं वे लोगों की दृष्टी से वाहिर नहीं है । तथा समभाव द्वारा यदि विचार कर देखा जाय कि जिस प्रकार एक साठ वर्षीय वर (वृद्ध) दश वर्षीय कुमारी के साथ वेद मन्त्रों द्वारा विवाह कर प्रसन्न होता है यदि इसके विपरीत साठ वर्षीय वुढिया एक दश वर्षीय कुमार के साथ विवाह करे तो क्या वह अपने मन म प्रसन्न न होगी ? जिस प्रकार उस बुढिया के विवाह का लोग उपहास करने लगेंगे तो क्या लोग उस वृद्ध के विवाह का उपहास नहीं करेगे ? अतएव वृद्धविवाह जाति, कुल व धर्म का विध्नसक है और व्यभिचार के मार्ग को खोलने वाला है, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को इसका प्रतिवाद करना चाहिये ।

इसी प्रकार जाति धर्म के नियमावली म इसके विरोध के लिये दण्ड नियत कर देना चाहिये जिससे इसका प्रत्येक गण (बिरादरी) से वहिष्कार किया जा सके । क्योंकि जब

कन्या अपने यौवन के पथ पर पाद (पग) रखने लगती है तब वह वृद्ध अपनी परलोक यात्रा के लिये प्रस्तुत होने लगता है। उसके पश्चात् जो उस कन्या की वा युवती की दशा होती है वह सब के समक्ष है इसलिये उसके दिग्दर्शन कराने की आवश्यक्ता प्रतीत नहीं होती।

अतएव प्रत्येक जाति से वृद्ध विवाह का बहिष्कार किया जाना चाहिये।

कन्या विक्रयः—जिस प्रकार वृद्ध विवाह धर्म, जाति या देश की हानि करने वाला बतलाया गया है ठीक उसी प्रकार कन्या विक्रय कृत्य भी हानि कारक कथन किया गया है।

जो लोग महा लालची हैं वे लोभ के वशीभूत होकर अपनी प्यारी कन्याओं को बेचकर अयोग्य व्यक्तियों को समर्पण कर देते हैं जिससे उन बालिकाओं को फिर नाना प्रकार के कष्टों का सामना करना पडता है कारण कि अयोग्य व्यक्तिया समझती हैं कि हमने यह पदार्थ मोल लिया है, इसलिये जिस प्रकार हम चाहें इसके साथ बर्ताव कर सक्ते हैं।

सो इसी आशा से प्रेरित होकर फिर वे उन बालिकाओं के साथ राक्षसी व पैशाचकी व्यवहार करने लग जाते हैं

परन्तु वे बालिकाएं निराश्रित अपने आपको समझती हुई उन पैशाचरी व्यवहारों को सहन किये जाती हैं जिसका परिणाम धर्म या जाति अभ्युदय के लिये अत्यंत बाधा जनक देखा जाता है। अतएव दया-धर्म के मानने वालों को योग्य है कि इस अत्याचार को अपने २ गण से बाहिर करने की चेष्टाएं करें। क्योंकि बिरादरी के मुखिया इसलिये होते हैं कि यदि कोई व्यक्ति स्वच्छंदता पूर्वक कोई काम करने लगे तो उसका प्रतिवाद करते हुए उसको शिक्षित करें।

जब गण के स्थविर इस ओर लक्ष्य ही न दें तो भला फिर गणोन्नति या जाति सेवा तथा जाति रक्षा किस प्रकार रह सकती है ?

आवश्यक सूत्र के गृहस्थ के ७ वें व्रत में, "केश वाणिज्य" के पाठ से श्री भगवान ने इस कृत्य को कर्मादान के नाम से बतलाकर इसके छोडने का उपदेश दिया है। सो कन्या विक्रय से जो २ दोष दृष्टिगोचर होते हैं वे सब के सामने हैं। इसलिये इस कृत्य को सर्वथा छोड देना चाहिये।

पुरुष विक्रय —जिस प्रकार कन्या विक्रय महा पाप-जन्य कृत्य है ठीक उसी प्रकार बालक विक्रय या पुरुष विक्रय भी पापजन्य कृत्य है क्योंकि जिन २ दोषों की प्राप्ति कन्या विक्रय से होती है वेही दोष पुरुष विक्रय में भी

अचित होते हैं। अतएव किसी कारण के उपस्थित होजाने
पर कन्या विक्रय वा पुरुष विक्रय ये कार्य न करने चाहिये।
क्या बहुत से कार्य धर्म विरुद्ध होते हुए भी देश विरुद्ध
नहीं होते। परन्तु यह उक्त कार्य धर्म और देश तथा जाति
इत्यादि सभी के विरुद्ध है। इसलिये सुज्ञ पुरुषों को इन
प्रथा का स्वजाति से बहिष्कार कर देना चाहिये।

व्यर्थ व्यय—जिस प्रकार उक्त कार्य सर्व प्रकार की
हानि करने वाले बतलाये गए हैं, ठीक उसी प्रकार व्यर्थ
व्यय भी हानि करनेवाला कथन किया गया है। परन्तु प्रश्न
यह उपस्थित होता है कि व्यर्थ व्यय किसे कहते हैं? इस
प्रकार की शङ्का के उत्तर में कहा जाता है कि —

"पात्र च त्रिविध धर्म पात्र कार्य पात्र काम पात्र चेति"

पात्र तीन प्रकार से कहाजाता है जैसे कि, धर्म पात्र, कार्य
पात्र और काम पात्र। सो स्वर्ग और मोक्ष के लिये धर्म पात्र
कथन किया गया है। इस लोक की आशा पूर्ति करने के लिये
कार्य पात्र दान माना गया है और काम सेवन की वृद्धि के
लिये काम पात्र कथन किया गया है। जैसे स्त्री आदि की
भांति। तीनों पात्रों के अतिरिक्त व्यय किया जावे तो वह
व्यर्थ व्यय कथन किया गया है जैसे कि, वेश्यानृत्य, भांड
चेष्टाएं, तथा नाटकों का अवलोकन इत्यादि स्थानों में धन
व्यय करना व्यर्थ व्यय माना गया है क्योंकि जिस प्रकार

भस्म में घृत डाला हुआ व्यर्थ जाता है ठीक उसी प्रकार उक्त स्थानों में धन व्यय किया हुआ किसी भी कार्य की सिद्धि करने में सामर्थ्यता नहीं रखता।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह व्यर्थ व्यय करने से बचता रहे और साथ ही धर्म, अर्थ, और काम इन तीन वर्ग का यथोचित रीति से पालन करता रहे।

क्योंकि प्रमाण से अधिक सेवन किये हुए पदार्थ लाभ के स्थान पर हानि के कारणीभूत बन जाते हैं।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि पात्रों के अतिरिक्त सर्व व्यर्थ व्यय ही जानना चाहिये।

साथ ही विवाह आदि क्रियाए करते समय जो प्रमाण वा नियम से अधिक क्रियाए की जाती हैं वे सर्व व्यर्थ व्यय में ही जाननी चाहिये, क्योंकि इन संस्कारों के समय जो गण के स्थविर होते हैं वे देश या काल के अनुसार नये २ नियमों की रचना करते रहते हैं, जो देश और काल के अनुसार वे नियम कार्य साधक बनजाते हैं। उनका विचार यह होता है कि इन नियमों के पथ पर धनाढ्य वा निर्धन सुख पूर्वक गमन कर सकेंगे जिससे किसी को भी बाधा उपस्थित न होगी। जिस प्रकार राजमार्ग पर सर्व व्यक्ति सुख पूर्वक गमन कर सक्ते हैं और गमन करते रहते

हैं ठीक उसी प्रकार नियमों के पथपर भी मर्व गणवासी चल रहते हैं। परन्तु किसी वल या मद के आश्रित होकर उन नियमों के पालन करने की परवाह न करना तथा उन नियमों को छेन्न भेदन करदेना यह योग्यता का लक्षण नहीं है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह देश काल का ठीक ज्ञान रखते हुए व्यय के घटाने की चेष्टाए करते रहें। तथा उन नियमों के छिन्न भिन्न करने की चेष्टाए कदापि न करें। तथा यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि जो पदार्थ परिणाम पूर्वक सेवन किये जाते हैं वे किसी प्रकार की बाधाए उपस्थित नहीं करते। किंतु जो परिणाम से बाहिर सेवन करने म आते हैं वे किसी प्रकार से भी सुख-प्रद नहीं माने जासक्ते। जिस प्रकार उष्ण काल मे परिणाम से सेवन किया हुआ जल, आयु का संरक्षक होता है ठीक उसी प्रकार परिणाम से अधिक सेवन किया हुआ आयु के क्षय का कारण बन जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ क विषय मे जानना चाहिये। व्यर्थ व्यय उसी का वास्तव म नाम है जो सांसारिक सिद्धि या धार्मिक कार्यों की सिद्धि के विना किया जाय।

यदि ऐसा कहा जाय कि जब हम रात्रि के समय नृत्यादि को देखते हैं तो क्या उनके देखने से हमारी कार्य सिद्धि नहीं हुई है। अवश्य हुई है। क्योंकि जो हमारी

देखने की अभिलाषा थी उसकी पूर्ति तो अवश्य होगई ... इस गाथा के उत्तर में पूछा जाता है कि उसके देखने से क... प्रकार के मन में सङ्कल्प उत्पन्न हो जाया करते हैं ... बहुत से सङ्कल्प प्रायः अशुभ ही होते हैं और साथ ही ... कदाचार की ओर पग बढ़ने लगजाता है इतना ही नहीं कि बहुत सी अनभिज्ञ आत्माएं फिर कुमार्ग में गमन करने वाली बनजाती हैं। इसलिये अब विचार कर देखाजाय तो उस नृत्य के देखने में जो धन का व्यय किया था वह किस काम में आया ? अतः जिससे सांसारिक वा पारमार्थिक कोई भी सिद्धि न हो, केवल इंद्रियों के ही तृप्ति करने का मार्ग है उसी को व्यर्थ व्यय कहा जाता है। वास्ते ऐसी क्रियाओं से बचना चाहिये।

मृतक संस्कार के पश्चात् भोजन (मोसर)। जिस प्रकार इत्यादि इंद्रियों की तृप्ति के कारण व्यर्थ व्यय से वर्णित किये गये हैं ठीक उसी प्रकार बहुत से लोग मृतक संस्कार, वा उसके पश्चात् मृतक महोत्सव के रूप में जीमनवारादि, किया करते हैं। ये क्रियाएं भी अयोग्य प्रतीत होती हैं और, शास्त्रविहीत न होने से व्यर्थ व्यय करने में मूल कारण बन जाती हैं।

जैसे कि जब किसी की मृत्यु होती है तब उसके वियोग का दुःख प्रायः सम्बन्धीजनों को होता ही है। हां, इतना विशेष अवश्य है कि जिस प्रकार की मृत्यु उसी प्रकार का

लिया यह होना स्वाभाविक बात है। जैसे कि एकतो युवा पुरुष की मृत्यु हुई और दूसरे एक ९० वा सौ वर्ष के पुरुष की मृत्यु हुई। परंतु मृत्युधर्म समान होने पर भी अवस्था के कारण से नियोग में विभिन्नता अवश्य देखी जाती है। -- -,

शोक से लिखना पडता है कि उस विभिन्नताने लौकिक में और ही रूप धारण कर लिया है, जैसे कि --युवा की मृत्यु समय अत्यंत वियोग और वृद्ध की मृत्यु समय अत्यंत प्रमोद इतना ही नहीं किंतु उपहास्यादि के वशीभूत होते हुए उस वृद्ध के शव की दुर्दशा देखने में आती है। कोई छज्ज (सूप) वा फूटा ढोल बजाता है, कोई असभ्य गीत गाता है, कोई बाजार में नाचता है इत्यादि क्रियाएं करते हुए उस वृद्ध के शव को बडे कष्टों के साथ मृत्यु संस्कार के स्थान तक पहुंचाते हैं। फिर अग्नि-संस्कार के समय में भी उसके शव की दुर्गति की जाती है तो भला विचारने की बात है कि क्या ये क्रियाएं आर्य पुरुषों के लिये लज्जास्पद नहीं हैं? अवश्यमेव हैं। तथा क्या इन क्रियाओं के करने से कोई योग्यता पाई जाती है। कदापि नहीं।

अतएव इस प्रकार की क्रियाओं का परिहार अवश्यमेव गण के नेताओं को करने योग्य है। तथा मृत्यु-संस्कार के पश्चात् बहुतसे गणों में प्रथा है कि वे जीमनवार (मौसर) करते हैं। कई स्थानों पर निर्धन परिवार को केवल गण के भय से उक्त क्रियाएं करनी पडती हैं और वे दोनों प्रकार से दुःखित

होते हैं जैसे कि —एकतो उनरे सम्पतियों का वियोग दूस। गण के भय से व्यर्थ व्यय। क्योंकि उनके पास इतना पर्याप्त धन नहीं होता जिससे वे विवाह-सरकार के समान मृतक संस्कार के लिये ज्ञाति भोजन कर सकें।

अतएव गण के नेताओं को योग्य है कि इस प्रकार की कुप्रथाओं का विरोध करें।

तथा जो ज्ञाति जन उस भोजन में अपने भोजन खाने के लिये उन क्रियाओं के करने में अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं यदि उन लोगों को सम्पतियों के तमाशा (नृत्य) की तरह बीस या तीस मुद्राओं देनी पड़े तब उनको सहज में ही निश्चित होजाय कि मृतक के संस्कार महोत्सव की मिठाई का कितना मूल्य पड़ा है।

अतएव इतना महगा पदार्थ हम नहीं खा सकते। शोक से कहना पड़ता है कि अनेक धार्मिक संस्थाएं बिना सहानुभूति के मृतक शय्या पर शयन किये जारही हैं और कई बुझते हुए दीपक की तरह डांवां डोल हो रही हैं। जाति के अनाथ बालक वा बालिकाएं भूख के मारे विधर्मी बन रही हैं और अनेक विधवाएं बिना सहायता के कदाचार में प्रविष्ट हो रही हैं। श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी का पवित्र सिद्धांत बिना प्रचार के अनेक आक्षेपों का स्थान बनरहा है तथा जैन

सके प्रचार किये बि॥ अनेक आत्माए अधकार मार्ग मे ग्रस्त हर रही हैं।

इन विषयो की ओर उन महानुभावों का ध्यान तक भी नहीं जाता। यदि उनसे इस विषय में कहा जाय तो वे शीघ्र ही उत्तर प्रदान करते हैं कि क्या हम अपनी पुरातन रीति को छोड दें? सो यही अज्ञानता है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु के प्रचार का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव माना गया है।

सो जब यह प्रथा आरभ हुई होगी तब उस समय यह देश था प्रत्येक घर समृद्धि शालि बना हुआ था। वे किसी निमित्त को लेकर अपनी ज्ञाति में प्रीति भोजन द्वारा सेवा करनी प्रत्येक व्यक्ति अपना सौभाग्य समझता होगा। इत्यादि अनुमान से प्रतीत होता है कि जैसे ब्राम्हण लोगों ने मृतक के पश्चात श्राद्ध कल्पन कर लिये थे ठीक उसी प्रकार सुयोग्य व्यक्ति ने श्राद्ध को कल्पित होने के कारण न मानते हुए केवल ज्ञाति मे मृतक के नाम पर भ्राति भोजन स्थापन कर दिया होगा। सो जब देश या प्रत्येक घर की यथावत् यह दशा ही नहीं रही है तो फिर उक्त क्रियाओ के करने की अब क्या आवश्यकता है?

इससे तो अब यह प्रथा अच्छी प्रतीत होती है कि उस मृतक के पक्ष मे उसके सम्बन्धियों की यथोचित विधि से सहानुभूति की जाय।

ताए अब्भुट्ठे यव्व भवति ७ साहम्मि ताण मधि करणसि उप्पणसि तथ्थ अणिस्सितो वसिसतो अपक्ख गाही मज्झत्थ भाव भूते कहण माहमिया अप्पसद्दा अप्पझझा अप्पतु मतुमा उवसामण ताते अब्भुट्ठे यव्व भवति ८

ठाणाग सूत्र स्थान ८ सू ६४९ (समितिवाला)

अर्थ —श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी प्रति पादन करते हैं कि हे आर्यो ! आठ स्थानों की प्राप्ति में योग काय करना चाहिये। प्राप्त कार्यों में उसके रखने के लिये यत्न करना चाहिये। शक्ति क्षय समय तक इनका पालन करना चाहिये। उत्साह पूवक इनम पराक्रम करना चाहिये। अर्थात् किसी प्रकार से इन स्थानों के पालने में प्रमाद न करना चाहिये जैसे कि —

१ जिस श्रुत धर्म को पूर्व नहीं सुना है उसके सुनने के लिये उद्यत हो जाना चाहिये।

२ सुने हुए श्रुत धर्म को विस्मृत न करना चाहिये।

३ पाप कर्म का सयम द्वारा निरोध करना चाहिये।

४ तपस्या द्वारा प्राचीन कर्मों का निर्जरा कर देनी चाहिये अर्थात आत्म विशुद्धि करनी चाहिये।

५ असगृहीत जन को सगृहित करना चाहिये । अर्थात अनाथों की पालना करना चाहिये ।

६ शैक्षक को आचारगोचार सिखलाना चाहिये ।

७ रोगियों की घृणा छोडकर सेवा करनी चाहिये ।

८ यदि सद्धर्मियों में कलह उत्पन्न होगया हो तो राग और द्वेष से रहित होकर तथा किसी भी आशा को न रखकर केवल माध्यस्थ भाव अवलम्बन कर उस क्लेश को मिटा देना चाहिये । कारण कि क्लेश के शात होने से अविनय के वृद्धि करने वाले वाक्यों का अभाव होजाने से केवल शाति का राज्य स्थपन होजायगा । कारण कि सब प्रकार के सुखों को प्रदान करने वाली एक शाति देवी है सो जब इस देवी का आगमन होता है तब उसी समय नाना प्रकार के सुख या विस्मय उत्पादन करने वाली नाना प्रकार की शक्तिया आत्मा में प्रादुर्भूत होने लग जाती हैं ।

फिर क्रमश आत्मा निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है । अतएव व्यर्थ व्यय को छोडकर श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी की प्रतिपादन की हुई शिक्षाओं द्वारा अपना जीवन पवित्र बनाना चाहिये ।

लक्षण है। परोपकार में अदरुनी उचे प्रकार का मान होता है। यद्यपि प्रेम की अपेक्षा परोपकार वृत्ति का दर्जा छोटा है तथापि स्वार्थ वृत्ति की अपेक्षा इसका दर्जा बहुत ही बड़ा है। यद्यपि परोपकारी अपने स्वार्थ का त्याग करता है तथापि उसके अतरग म परोपकार के बदले महान् लाभ होने की आशा रहती है। परोपकार वृत्ति धीरे २ मनुष्य को प्रेम की तरफ लेजाती है। परोपकारी के हृदय में अपने भावी कल्याण की सुदर आशा होती है। यद्यपि यह इष्ट नहीं है तथापि वर्तमान स्थिति के लिये तो उत्तम ही है। अपना पेट तो कौए और कुत्ते भी भरते हैं, मगर दूसरों के दु खो को दूर करने में अपने जीवन की आहुति करने वाले बहुत ही थोडे होते हैं। महात्मा लोग कहते हैं कि अपनी शक्ति के अनुसार तुम दूसरों का मदद करो, तुम्हें अगर मदद की जरूरत होगी तो तुम से विशेष शक्तिवाले तुम्हारी मदद करेंगे। न तो तुम पूर्ण हो और न इच्छाओं या आवश्यक्ता ओं से रहित हो, इसलिये दूसरों की इच्छाए या आवश्यक्ताए तुम पूरी करो। तुम्हारी आवश्यक्ताए और इच्छाए भी पूरी की जायँगी। मनुष्यों को यह विचार करना चाहिये कि हमारे पास इतने साधन नहीं है कि हम दूसरों की सहायता कर सकें। तुम्हारे पास जितनी शक्ति या साधन हैं उनमें थोडासा अंश भी तुम दूसरों की सहायता के लिये खर्च करो। जिनको तुमसे भी हुत ज्यादा जरूरत

है उसको दो। हो सक्ता है कि तुम नये कुए बावडी न खुदवा सको, पानी की प्याउए न लगवा सको, मगर एक लोटा पानी तो वास्तविक प्यास वाले को पिला ही सक्ते हो। भले तुम सदाव्रत न खुलवा सक्ते हो मगर भूखे को एक रोटी तो दे ही सक्ते हो। भले तुम धर्म शाला न बंधवा सकते हो मगर धूप से झुलसते हुए को, सर्दी से ठिठरते हुए को अथवा पानी में भींगते हुए को तुम अपने मकान में या चबूतरे पर तो जगह जरूर दे सकते हो। भले तुम मुफ्त औषधालय न खुलवा सके हो, परन्तु रोगार्त्त पडोसी के लिये कहीं से लाकर औषध तो देही सक्ते हो।

भले तुम दुःखी का दुःख नहीं मिटा सकते हो, परन्तु मीठे शब्द बोलकर उसे आश्वासन तो अवश्य दे सकते हो। दुःख में डूबते हुए मनुष्य को आश्वासन भी बहुत कुछ उबार लेता है, आधा दुःख दूर कर देता है। भले ही धर्म के बडे २ व्याख्यान तुम न दे सक्ते हो मगर गुरु महाराज के मुख से सुनी हुई धर्म की बातें तो दूसरों को सुनाही सकते हो। भूले हुए को भले तुम उसके अभीष्ट स्थान पर न पहुचा सक्ते हो, परन्तु उस स्थान का पता तो अवश्यमेव बता सकते हो।

इस तरह यदि छोटे २ उपकार के काम करने का अभ्यास डालोगे तो अंत में तुम मे महान् कार्य करने की शक्ति भी प्रकट होगी। यदि स्वयं तुम कोई उपकार न क-

समय पर तो परोपकारी जीवों के साथ दुःखी जीवों का समागम अवश्यमेव करादो। जिसमें देने की शक्ति है उसको वास्तविक सम्बन्ध नहीं मिलती अतः उनको यह मिला देना भी परोपकार है। प्रत्येक मनुष्य को सवेरे उठते ही कुछ न कुछ परोपकार करने का नियम लेना चाहिये। ऐसा करने से परोपकार करने के अनेक मौके मिलेंगे। प्रति क्षण तुम्हारी वृत्ति परोपकार के अन्दर ही रहेगी। जो परोपकार करने में अपना जीवन बिताते हैं उन्हें महान पुरुषों के आशीर्वाद मिलते हैं। उनका हृदय निर्मल और निरभिमानी बनता है। वे प्रेम पद पाने के योग्य होते हैं। सच में दुःखी हुई आत्मा की आत्म शक्तियां परोपकार करने से जाहिर आजाती हैं। आत्म शक्तियां के विकसित हो जाने पर मनुष्य दुनिया के उद्धारक महात्माओं की श्रेणी में आजाता है और उस समय परोपकार के बदले उनमें प्रेम के भाव झरने बहने लगते हैं। वह प्रेमी बनता है और अन्त में वह परमात्मा के साथ एक रूप बन जाता है। अपनी आत्म शक्तियां प्रकट करता है, परम शांति पाता है। यह परिणाम परोपकारी और प्रेम मय जीवन बिताने का है।
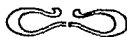
ब्रह्मचर्य ।

जिस प्रकार आकाश सब पदार्थों का आधार है और सब पदार्थ आकाश मे आधेय रूप में ठहरे हुए हैं ठीक उसी प्रकार सर्व गुणों का आधार एक ब्रह्मचर्य ही है । तथा जिस प्रकार एक वृक्ष के आश्रित अनेक पत्र पुष्प और फल ठहरते हैं ठीक उसी प्रकार प्रत्येक गुण का आश्रयभूत एक ब्रह्मचर्य ही है ।

तथा जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को जगती का आश्रय है ठीक उसी प्रकार प्रत्येक गुण ब्रह्मचर्य के आश्रयभूत होकर रहता है ।

तथा जिस प्रकार सब ज्योतियों मे सूर्य की ज्योति अत्यंत प्रकाशमान है ठीक उसी प्रकार प्रत्येक गुणों में ब्रह्मचर्यरूप गुण अतीव प्रकाशमान है ।

तथा जिस प्रकार प्रत्येक शान्तमय पदार्थों में चन्द्रमा शांत और प्रकाश गुण के धारण करनेवाला है ठीक उसी प्रकार प्रत्येक व्रतों में अपने अद्वितीय गुण के धारण करनेवाला ब्रह्मचर्यव्रत है ।

तथा जिस प्रकार समुद्र गंभीरता गुण से युक्त है ठीक उसी प्रकार सर्व गुणों का आश्रयभूत एक ब्रह्मचर्य व्रत है ।

अतएव प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक या मानसिक दशा सुधारने के लिये या लोक और परलोक सुधारने के लिये इस महाव्रत को धारण करना चाहिये।

यद्यपि ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ ब्रह्म में प्रविष्ट होना है अर्थात् अपने निज स्वरूप में प्रविष्ट होना है तथा श्रुतज्ञानानुष्ठान भी इसी का अर्थ है तथापि इस स्थान पर मैथुन से निवृत्त होकर केवल श्रुतज्ञान में प्रविष्ट होना लिया गया है। क्योंकि यावत्काल विषय विकारों से सर्वथा निवृत्ति नहीं की जाती तावत्काल पर्यंत आत्मा अपने अभीष्ट ध्येय की ओर भी नहीं जा सक्ता अतएव इस स्थान पर मैथुन के दोष और ब्रह्मचर्य के गुण जिनदास और जिनदत्त दो मित्रों के सम्वाद रूप में लिखे जाते हैं जिससे प्रत्येक व्यक्ति उक्त व्रत के गुण और उक्त व्रत के न धारण करने से जो अवगुण उत्पन्न होते हैं उनको जानले।

जिनदास—प्रिय मित्र! मैथुन सेवन करने में क्या दोष है? जो आप सदैव काल इसका निषेध करते रहते हैं?

जिनदत्त—प्रियवर! इसके दोषों का क्या ठिकाना है? यह तो दोषों का आगार [स्थान] ही है।

जिनदास—यदि आप इसमें अनेक दोष समझते हैं तो प्रियवर! कुछ दोषों का दिग्दर्शन तो कराइये

जिसमे मुझे भी ठीक पता लगजाय कि मैथुन मेवन करने से अनेक दोप उत्पन्न हो जाते हैं।

जिनदत्त —प्रियवर ! यदि आप सुनना चाहते हो तो आप ध्यान देकर सुनिये।

जिनदास —प्रियवर ! मैं ध्यान पूर्वक ही सुनना चाहता हू आप कृपा कीजिये।

जिनदत्त —सुहृद्वर्य ! सुनिये, प्रथम तो सबसे पहिले इस पाप के द्वारा अपने पवित्र शरीर का नाश होजाता है। उमके पश्चात जो शरीर के भीतर आत्मा निवास करता है उसकी जो ज्ञानादि अनत शक्तिया हैं फिर उनको भी आघात पहुचता है।

जिस प्रकार एक तीक्ष्ण खड्ग [तलवार] मे सिर काटने पर फिर आत्मा भी उस शरीर से पृथक होजाता है ठीक उसी प्रकार इस मैथुन क्रीडा से शरीर की हानि होने से फिर आत्मा के गुणों को भी आघात पहुचता है।

जिनदास —प्रियवर ! इस मैथुन क्रीडा मे शरीर को क्या २ हानि पहुचती है, पहले यहतो बतलाइये ?

जिनदत्त —यावन्मात्र प्राय असाध्य कोटि के रोग हैं उनकी उत्पत्ति का कारण प्राय मैथुन

क्रीडा ही है तथा शरीर का कांपना, अत्यंत परिश्रम [थकावट] मानना, पसीना बारम्बार आना, सिर में चक्कर आने, चित्त भ्रमण करते रहना, प्रत्येक कार्य के करते समय मन में ग्लानि उत्पन्न होजाना और अत्यंत निर्बल हो-जाना इतनाही नहीं किंतु बिना सहारे से बैठा भी न जाना, फिर क्षयादि रोगों का उत्पन्न होजाना यह सब मैथुन क्रीडा के ही फल हैं। अतएव तेज के घट जाने से कौनसा शारिरीक दोष है जो इसके सेवन से उत्पन्न नहीं हो-सक्ता ?

जिनदास —इसके अतिरिक्त क्या कोई और भी शरीर को हानि पहुचती है ?

जिनदत्त —प्रिय ! जब क्षयादि रोग उत्पन्न होगए तो फिर उनसे बढकर और क्या हानि होती होगी ! क्योंकि जब शरीर का ही तेज घट गया तो फिर शेष रहा ही क्या ? तथा जब स्वाभाविक बल का नाश हो गया तो फिर उस व्यक्ति को कृत्रिम बल क्या बना सक्ता है ? क्योंकि जो पुष्पों पर स्वाभाविक्ता से सौंदर्य होता है वह सौंदर्य क्या वस्त्रों पर आसक्ता है ?

कदापि नहीं। इसी प्रकार जो ब्रह्मचर्य की स्वाभाविक शक्ति है तो क्या फिर उस प्रकार की शक्ति कभी किसी औषध के सेवन से आसकती है? कदापि नहीं। अतएव मैथुन क्रीडा को त्याग कर परम पवित्र ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिये।

जिनदास.—मित्र! क्या जिन आत्माओं ने ब्रह्मचर्य व्रत को धारण नहीं किया हुआ है उनके संतान उत्पन्न नहीं होती?

जिनदत्तः—सखे! क्या आप देखते या जानते नहीं हैं कि जो असत विषयी जन हैं प्रथम तो उनके संतान उत्पन्न ही नहीं होती। यदि होभी जाती है तो फिर वह अत्यंत निर्बल और रोगों से घिरी हुई तथा अल्पायुवाली होती है।

जिससे देश का और भी अधःपतन हो रहा है। या ऐसा कौनसा सुकृत है जो मैथुन क्रीडा से नष्ट नहीं किया जा सक्ता? जैसे कि विद्या का नाश किसने किया? मैथुन क्रीडाने, संयम का नाश किसने किया? मैथुन क्रीडाने, मनको निर्बल किसने बनाया?

मैथुन

ससार म सबसे बढ़कर अधर्म कौनसा है ?

मैथुन क्रीडा

चित्त को विभ्रम कौन उत्पन्न करता है ?

मैथुन क्रीडा

बालकों की मुख की सौन्दर्यता और चचलता के नाश करने वाला कौन है ?

मैथुन क्रीडा

प्रत्येक प्राणी से बैर करने का मुख्य कारण कौन है ?

मैथुन क्रीडा.

कौनसा गुप्त पाप किया हुआ जनता म शीघ्र प्रकट होजाता है ?

मैथुन क्रीडा

ब्रह्म से कौन नहीं मेल होने देता ?

मैथुन क्रीडा

सर्वेव काल मनको सतापःम कौन डालता रहता है ?

मैथुन क्रीडा

राम ने रावण को क्यों मारा ?

मैथुन क्रीडा के कारण से

रामने सहस्र गवि राजा को क्यों मारा ?

मैथुन क्रीडा के कारण से.

मनको विभ्रम में सदा कौन डालता है ?

मैथुन क्रीडा

क्लेश का मुख्य कारण कौन है ?

मैथुन क्रीडा

मित्रको शत्रु कौन बनाता है ?

मैथुन क्रीडा

उच्च पद से गिरा कर नीच पद में कौन स्थापन करता है ?

मैथुन क्रीडा.

लोक मे निर्लज्ज कौन बनाता है ?

मैथुन क्रीडा

डाक्टरों वा वैद्यो की गुप्त सेवा कौन कराता है ?

मैथुन क्रीडा

गर्मी के गुप्त रोग किसको होते हैं ?

मैथुन क्रीडा के करने वाले को

मर्यादा का नाश कौन करता है ?

मैथु[illegible]

अतएव हे मित्र ! कौनसा शारीरिक या मानसिक रोग है जो मैथुन क्रीडा से उत्पन्न नहीं होता ?

सो मैथुन क्रीडा को छोडकर ब्रह्मचर्य के व्रत क आश्रित होकर अपने जीवन को पवित्र बनाना चाहिये।
क्योंकि इस नियम के आश्रित होकर सब प्रकार की सिद्धिया उत्पन्न हो सकी हैं

जिस प्रकार सर्व प्रकार के वृक्षों में अशोकवृक्ष (कल्पवृक्ष) अपनी प्रधानता रखता है ठीक उसी प्रकार सर्व व्रतों मे ब्रह्मचर्य व्रत अपनी प्रधानता रखता है।

जिनदास'—ब्रह्मचर्य में प्रत्यक्ष और परोक्ष गुण कौन २ से हैं ?

जिनदत्त.—सखे ! ब्रह्मचर्य में प्रत्यक्ष और परोक्ष अनेक गुण हैं।

जिनदासः—मित्र ! आप उन गुणों का यथा विधी उपदेश दीजिये।

जिनदत्त.—मित्र ! आप दत्त चित्त होकर सुनिये।

जिनदास'—मै सुनता हू, आप सुनाइये।

जिनदत्तः—मेरे परम प्रिय सुहृदद्वर्य ? सबसे प्रथम तो ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने से यह लाभ प्राप्त होता है कि शारिरिक शक्ति का दिन प्रतिदिन

विश्वास होता जाता है क्योंकि वल के लाभ से शारिरिक शक्ति बढती जाती है निम प्रकार जल के सींचने से वृक्ष प्रफुल्लित वा विकसित होने लग जाता है ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा शारिरिक शक्ति वृद्धि होने लगती है। तथा जिस प्रकार जल सींचने से वृक्ष प्रफुल्लित होता हुआ फिर नाना प्रकार के पुष्प वा फल देने के समर्थ हो जाता है ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के द्वारा जब शारिरिक शक्ति बढने लगती है तब साथ ही उसके फिर आत्मिक शक्ति भी विकसित होने लग जाती है। इसलिये इस व्रत का धारण करना अत्यत आवश्यकीय बतलाया गया है। तथा यह बात भली प्रकार मे मानी हुई है कि जब ब्रह्मचर्य की शक्ति आत्मा में होती है तब आत्मा प्रत्येक क्रियाओं के करने मे अपनी सामर्थ्य रखता है और फिर प्रत्येक गुण उस आत्मा मे स्थिति करने लग जाते हैं। जिम प्रकार ज्ञान में प्रत्येक पदार्थ को विषय करने की शक्ती होती है ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत मे प्रत्येक गुण के धारण करने की शक्ति रहती है ?

जिनदासः—आत्म विकास किससे होता है ?

जिनदत्त --ब्रह्मचर्य से।

चित्त में धैर्य और परमोत्साह किससे उत्पन्न होता है ?

ब्रह्मचर्य से।

और योगाभ्यास में एकाग्र चित्त किसका होता है?

ब्रह्मचारी का।

शारीरिक और मानसिक कष्ट किससे दूर होते हैं ?

ब्रह्मचर्य से।

आत्मिक शक्ति किसकी विकसित होती रहती है ?

ब्रह्मचारी की।

तप और सयम किससे वृद्धि पाते हैं?

ब्रह्मचर्य से।

स्फुरण शक्ति शील कौन होता है ?

ब्रह्मचारी।

दृढ़ विश्वास किससे उत्पन्न होता है ?

ब्रह्मचर्य से।

परमार्थ पथ कौन प्राप्त करता है ?

ब्रह्मचारी।

निर्वाण पद किससे प्राप्त होसक्ता है ?

ब्रह्मचर्य से।

सौंदर्य किससे बढ़ता है ?

ब्रह्मचर्य से ।

लावण्य किससे बढ़ता है ?

ब्रह्मचर्य से

कला कुशलता किसकी बढ़ती है ?

ब्रह्मचारी की

प्राण भूत चरित्र की रक्षा कौन कर सक्ता है ?

ब्रह्मचर्य

सिद्ध परमात्मा से एकत्व रूप कौन कर सक्ता है ?

ब्रह्मचर्य

चिरायुष किस से हो सक्ता है ?

ब्रह्मचर्य से

सुसंस्थान किससे बनता है ?

ब्रह्मचर्य से

दृढ़ संहनन किससे बन सक्ता है ?

ब्रह्मचर्य से

तेजस्वी कौन होसक्ता है ?

ब्रह्मचारी

महावीर्य युक्त कौन हो सक्ता है ?

ब्रह्मचारी

इस प्रकार है मित्र वर्य्य ! यह ब्रह्मचर्य व्रत गुणों की खानि है। इसी में सर्व गुणों का अतर्भाव होता है। जिस प्रकार सिर के बिना धड किसी काम का नहीं होता ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत के बिना शेष नियम सिर के बिना धड के समान है। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति को इस महाव्रत का यथोक्त विधि से सेवन करना चाहिये।

परन्तु स्मृति रहे कि यह व्रत दो प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे कि एक सर्व वृत्ति महात्माओं का और द्वितिय गृहस्थ लोगो का सो दोनो की व्याख्या निम्न प्रकारसे पढिये।

जिनदास'—प्रियवर ! जो आपने सर्व वृत्ति साधू-मुनिराज के ब्रह्मचर्य विषय का वर्णन किया है मैं कुछ उसका स्वरूप सुनना चाहता हू।

जिनदत्तः—मित्रवर्य्य ! आप दत्त चित्त होकर उक्त विषय को सुनिये

जिनदास'—आर्य ! सुनताहू सुनाइये

जिनदत्त—मित्रवर्य्य ! जब साधु वृत्ति ली जाती है तब उस समय वह मुनि मन, वचन, और काय से उक्त महाव्रत को धारण करता है—जगत मात्र के स्त्रीवर्ग को माता, भगिनी, या पुत्री की दृष्टि से देखता है। और सदैव काल

अपने पवित्र ध्यान में जगत के स्वरूप का चिंतवन करता रहता है। इतनाही नहीं किंतु उसकी आत्मा जिस प्रकार लवण की डली जलमें एक रूप होकर ठहर जाती है, ठीक उसी प्रकार उस मुनि का आत्मा ध्यान में तल्लीन हो जाता है अर्थात् ध्याता, ध्येय और ध्यान से हटकर केवल ध्येय में तल्लीन होजाता है। अतएव वह मुनि नौ नियमों से युक्त शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन कर सक्ता है।

जिनदास—सखे! वे नौ नियम, कौन से हैं जिन के द्वारा शुद्ध ब्रह्मचर्य पालन किया जा सक्ता है?

जिनदत्तः—मित्रवर्य्य! उन नौ नियमों के नाम नौ ब्रह्मचर्य्य की गुप्ति भी कहा गया है क्योंकि उन नियमों से ब्रह्मचर्य भली प्रकार से सुरक्षित रह सक्ता है जैसे कि —

नव बभचेर गुत्ती ओ प त नो इत्थी पसु पटग स सत्ताणि सिज्जा सणाणि सेविता भवइ ?
इसका अर्थ यह है कि नौ प्रकार से शुद्ध ब्रह्मचर्य की गुप्ति प्रतिपादन की गई है जैसे कि —

ब्रह्मचारी पुरुष जिस स्थान पर स्त्री, पशु और नपुंसक रहते हों उस स्थान पर निवास न करें। कारण कि उनके

साथ रहन मे ब्रह्मचर्य व्रत में नाना प्रकार की शकाए उत्पन्न होने की सभावना की जा सकेंगी ।

जिनदास:—अरे ! जब अपना मन दृढ हो तब उक्त व्यक्तिया के साथ रहने म क्या दोष है ?

जिनदत्त—मित्रवर्य ! चाहे कितना ही मन दृढ हो फिर भी सग अपना फल बतलाये विना नहीं रहता। अतएव सग दोष के दूर करने के लिये उक्त व्यक्तिया के साथ निवास न करना चाहिये। जैसे कि बाजार वाले चाहे कितनी श्रेष्ठ आत्मा हों फिर भी प्रत्येक व्यक्ति को अपने बहुमूल्य वाले पदार्थों की रक्षा के लिये पेटी आदि को ताला आदि लगाने ही पडते हैं। इसी प्रकार भले ही मन दृढ हो फिर भी ब्रह्मचर्य की गुप्ति के लिये उक्त व्यक्तियों के साथ सहवास न करना चाहिये।

जिनदास—मित्रवर्य्य ! इसका कोई दृष्टात देकर समझाओ।

जिनदत्त—प्रियवर ! सुनिये जिस स्थान पर बिडाल का वास हो वहां पर मूषकों (चूहों) का रहना हितकर नहीं होता तथा जिस स्थान पर सिंह का वास हो उसके निकट मृग का रहना शांति-

प्रद नहीं होता। तथा जहा पर साप का वास हो वहा पर पुरुषों का रहना सुख प्रद नहीं माना जा सक्ता। तथा जहापर चुगलो का वास हो उस स्थान पर सज्जन पुरुष भी निष्कलक नहीं रह सक्ता। ठीक इसी प्रकार जिस स्थान पर स्त्री, पशु तथा नपुसक निवास करते हों उस स्थान पर ब्रह्मचारी पुरुष का रहना सुखप्रद नहीं माना जा सक्ता। तथा जो ब्रह्मचारिणी स्त्री हो उसके लिये भी यही नियम है और वह जहा पर पुरुष पशु और नपुसक रहते हों उन २ स्थानों को छोड देवे तब ही ब्रम्हचर्य की गुप्ति ठीक रह सक्ती है।

जिनदासः—सुहृदय वर्य! मैं अब ठीक समझ गया किंतु अब मुझे आप ब्रम्हचर्य का दूसरा नियम सुनाइये।

जिनदत्त—ध्यान पूर्वक सुनिये "**नो इत्थीण कहं कहित्ता भवइ ॥ २ ॥** ब्रम्हचर्य पुरुष काम-जन्य स्त्री की कथा न करे क्योंकि जब वह पुनः२ काम जन्य स्त्री की कथा करता रहता है तब उसकी आत्मा पर अच्छा प्रभाव नहीं पडता क्यों कि जिस प्रकार के प्राय मन में सस्कार उत्पन्न

जिनदास —मित्रवर ! क्या स्त्री पुरुष की कोई भी कथा न करनी चाहिये !

जिनदत्त —प्रियवर ! सत्य और शील की दृढता सिद्ध करने के लिये स्त्री वा पुरुष की बातें करना हानि नहीं करता किंतु जिससे मोहनीय कर्म का उदय हो जावे वह कथा ब्रम्हचारी को न करनी चाहिये ।

जिनदास —मित्र ! मैं ठीक समझ गया । अब मुझे तीसरा नियम सुनाइये ।

जिनदत्त —प्रिय ! ध्यान पूर्वक सुनिये । "नो इत्थीण सेविता भवइ ३ स्त्रियों के समूह को सेवन करने वाला न होवे अर्थात् स्त्रियों के साथ बैठना और सदैव काल स्त्री वर्ग के अन्तर्गत ही रहना तथा जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो, फिर उसी स्थान पर जा बैठना इस प्रकार करने से स्मृति आदि दोषों के उत्पन्न होने से काम चेष्टाए उत्पन्न हो जाती हैं । अत ब्रम्हचारी पुरुष स्त्री का संसर्ग न करे ।

जिनदास —सखे ! इस प्रकार करने से क्या दोष है ? जबकि उसका मन दृढ है ।

जिनदत्त —मित्रवर्य्य ! जिस प्रकार लाख का घड़ा अग्नि के समीप रखा हुआ पिघल जाता है तथा घृत अग्नि के पास रखा हुआ पिघल जाता है वा चमक पत्थर के निकट लोहा रखा हुआ वह चमक पत्थर की आकर्षणता से खींचा चला आता है ठीक उसी प्रकार स्त्रियों के संसर्ग से मन की गति विकृत भाव को शीघ्र प्राप्त हो जायगी। जिससे ब्रह्मचर्य्य व्रत में आघात पहुंचने की संभावना की जा सकेगी। अतएव ब्रह्मचारी पुरुष स्त्रियों के समूह के साथ बैठे रहना इत्यादि क्रियाओं को छोड़ देवे। कारण कि जब अल्प सत्व-वाले आत्माओं का मन स्वतः ही चंचल रहता है किंतु जब वे स्त्रियों का संसर्ग करेंगे तब तो कहना ही क्या ?

जिनदासः—मित्रवर्य्य ! अब इसे मैं ठीक समझ गया किंतु अब मुझे आप चतुर्थ नियम सुनाइये।

जिनदत्त —सखे ! आप चतुर्थ नियम को ध्यान पूर्वक सुनें।

"नो इत्थीण इंद्रियाणि मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवइ ४"

ब्रह्मचारी पुरुष स्त्रियों की इंद्रियों को जो

मनोहर और मन को रमणीक हैं उनको न देखे। क्योंकि उनके देखने से उसके मन में काम राग के उत्पन्न होने की सभावना की जा सकेगी। अतएव वह पुरुष स्त्रियों की इन्द्रियों को न देखे। इसी प्रकार ब्रम्हचारिणी स्त्री पुरुषों की इन्द्रियों का अवलोकन न करे क्योंकि जो दोष स्त्री को देखने से पुरुष को उत्पन्न होते हैं वेही दोष पुरुष को देखने से स्त्री को उत्पन्न हो जाते हैं।

जिनदास —मित्र ! इन्द्रियों को देखने से किस प्रकार से दोष उत्पन्न हो सक्ते हैं ?

जिनदत्त —मित्रवर्य ! जिस प्रकार जिसकी आँख दुखती हो वह सूर्य को देखे, जिस प्रकार मृगी रोग-वाला पुरुष जल को देखे, जिस प्रकार चोर किसी के पदार्थ को देखे तथा जिस प्रकार पतंग दीपक की शिखा को देखकर अपने आपे में नहीं रहता ठीक उसी प्रकार कामी आत्मा किसी भी अवयव को देखकर फिर अपना मन अपने वश में नहीं रख सकता। अतएव ब्रम्हचारी पुरुष स्त्रियों के अंगोपांग का ब्रम्हचर्य की रक्षा के लिये अवलोकन न करे।

से बाहिर व्यायाम किया हुआ आपत्ति जनक होजाता है ठीक उसी प्रकार अधिक भोजन किया हुआ ब्रह्मचर्य की रक्षा का कारण न होता हुआ प्रत्युत हानि का कारण हो जाता है। अतएव अधिक भोजन न करना चाहिये।

जिनदास —तो फिर क्या भोजन ही न करना चाहिये।

जिनदत्त —मित्र ! ऐसा नहीं, किंतु प्रमाण से अधिक भोजन न करना चाहिये। यदि भोजन ही न किया जायगा तब प्राणों का रहना अत्यन्त कठिन हो जायगा जिस से फिर आत्मघात का पाप लगेगा।

जिनदास —मित्र। यह तो मैं ठीक समझ गया। अब मुझे ब्रह्मचर्य के सातवें नियम का विवरण कहिये।

जिनदत्त —मरे ! ध्यान पूर्वक आप सुनिये। "नो इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्व कीलियाइं समरइत्ता भवइ ॥ ७ ॥ स्त्रियों के साथ की हुई पूर्व कामक्रीडा तथा रति उन क्रियाओं की स्मृति करने से काम विकार के उत्पन्न होने की शंका की जा सकती है। अत पूर्व भोगों की स्मृति कदापि न करें। इसी प्रकार ब्रह्मचारिणी

स्त्री-पुरुषों की की हुई काम क्रीडा की स्मृति न करे।

जिनदास —स्मृति करने से किस दोष की प्राप्ति होती है ?

जिनदत्त —सखे ! जिस प्रकार किसी व्यक्ति के साथ किसी कष्ट के समय किसी ने सद्वर्ताव किया और किसी ने उसको और भी कष्ट दिया जब वह व्यक्ति कष्ट से विमुक्त होता है तब वह किसी समय उन दोनों व्यक्तियों के वर्ताव की स्मृति करता है तब जिसने उसके साथ सद्वर्ताव किया था उसका उपकार मानता हुआ उसके प्रति राग भाव प्रकाश करता है। परन्तु जिसने और भी कष्ट दिया था उसके वर्ताव की स्मृति करता है तब उसके भावों में संक्लेश और वैर भाव उत्पन्न होने लग जाता है। सो जिस प्रकार यह वर्ताव स्मृति किया हुआ राग और द्वेष के उत्पन्न करने का कारण बन जाता है ठीक उसी प्रकार पूर्व भोगे हुए काम की यदि स्मृति की जायगी तब वह भी भावों के बिगाड़ने का कारण बन जायँगी अतः स्मृति न

जिनदास —सखे ! जो बाल-ब्रह्मचारी हैं उनके लिये तो यह नियम कार्य साधक नहीं सिद्ध हुआ क्यों कि उनको तो किसी बात का पता ही नहीं है ।

जिनदत्तः—मित्रवर्य ! जो बाल ब्रह्मचारी हों वे पूर्वोक्त विषयों को सुनकर या किसी पुस्तक से पढ़कर फिर उस विषय की स्मृति न करें क्योंकि फिर उनको भी पूर्वोक्त दोषों की प्राप्ति होने की सभावना की जा सकेगी । जिससे ब्रह्मचर्य व्रत में नाना प्रकार की शकाएँ उत्पन्न होने लगेगी । अतएव विषयों की स्मृति न करनी चाहिये ।

जिनदास —सखे ! इन नियमों को तो मैं ठीक समझ गया हू किंतु अब आप मुझे आठवें नियम का विषय कहिये ।

जिनदत्त —वयस्य ! प्रेम पूर्वक इस नियम को श्रवण कीजिये । "नो सद्दाणुवाई नो रूवाणुवाई नो गंधाणुवाई नो रसाणुवाई नो फासाणुवाई नो सिलोगाणुवाई" ॥८॥ ब्रह्मचारी पुरुष शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श तथा स्वश्लाघा इनमें मूर्छित न होवे । अर्थात् काम-जन्य शब्द, काम-जन्य रूप, काम-

जन्य गध, काम-जन्य रम और काम-जन्य स्पर्श तथा काम-जन्य स्वश्लाघा इनमे मूर्छित कदापि न होवे, कारण कि जो अनभिज्ञ आत्माएँ पचेंद्रियों के अर्थों विषय मूर्छित हो रहे हैं वे अकाल मे ही मृत्यु प्राप्त कर लेते हैं। जैमे कि —मृग, पतग, सर्प या भ्रमर, मत्स्य और हाथी, उक्त सब जीव यथा क्रम से पाचों इद्रियों में से एक २ के वश होते ही अकाल मे मृत्यु प्राप्त कर लेते हैं। फिर जो पाचों इद्रियों के वश मे हो जाता है उस मनुष्य की बात ही क्या कहना है ? इस लिये ब्रम्हचारी को उक्त पाचों विषयों से बचना चाहिये। तथा जिस प्रकार मेघ का शब्द सुनकर मयूर नाच करने लग जाता है ठीक उसी प्रकार काम-जन्य शब्दों के सुनने से ब्रम्हचारी का मन भी शुद्ध रहना कठिन होजाता है। अतएव काम-जन्य शब्दों को न सुनना चाहिये।

जिनदास —सखे ! मैं इसे भी ठीक समझ गया। अब मुझे ब्रह्मचर्य के नववें नियम का बोध कराइये।

जिनदत्त —मित्रवर्य ! अब आप इस व्रत के नववें नियम को ध्यान पूर्वक, ...नो साया सोक्ख

पडियद्रे यावि भवई ' साता वेदनीय कर्म के उदय होने से जो सुख प्राप्त होगया हो उस म प्रतिबद्ध न होवे। अर्थात जो सासारिक सुख, सातावेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त हो रहे हों उन में मूर्छित न होना ब्रह्मचारी का मुख्य कर्तव्य है ।

इस के कथन करने का साराश यह है कि जब सासारिक सुखों म निमग्न हो जायगा तब उसका आत्मा ब्रह्मचर्य व्रत में कठिनता से रह सकेगा। इसलिये ब्रह्मचारी को यह योग्य है कि वह किसी प्रकार के सुखों की इच्छा न करे। जिस प्रकार शीतल जल के सुख को चाहने वाला महिष जल में प्रवेश किया हुआ ग्राह नामक जलचर जीव का भक्ष हो जाता है ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचारी आत्मा फिर साता के सुख की इच्छा करने से दुखों का भोगी बन जाता है। सो उक्त विधी से सर्ववृत्ति महात्मा लोग उक्त व्रत का पालन करते हैं ।

जिनदास —गृहस्थ को इस व्रत का सेवन किस प्रकार करना चाहिये ?

जिनदत्त —मित्रवर्य ! इस व्रत का सेवन निम्न कथनानुसार करना चाहिये। जैसे कि प्रथम तो

गृहस्थ को अपनी स्त्री सिवाय वेश्या संग या परस्त्री संग तथा कुचेष्टा कर्म सर्वथा त्याग देना चाहिये। फिर शुद्ध भोजन और शुद्ध आचार तथा शुद्ध व्यवहार उसे धारण करना चाहिये।

जिनदास—मित्रवर्य ! शुद्ध आचार से आपका क्या मंतव्य है ?

जिनदत्त—सखे ! जिस आचरण से अपने मन में विकार उत्पन्न हो जावे तथा जिस आचरण का प्रभाव आत्मा पर अच्छा न पड़े उस प्रकार के कुदाचारों से सदैव बचना चाहिये।

जिनदास—सखे ! दृष्टान्त देकर आप मुझे समझाइये।

जिनदत्तः—शुद्ध आचार उसी का नाम है जिस आचार से अपने मनमें कोई भी विकार उत्पन्न न होवे। जैसे कि—जब कोई पुरुष मांस खाने वाले की या मद्यपान करने वाले की तथा वेश्यादि की संगती करेगा तब उसके मन में अवश्यमेव कुत्सित विचार उत्पन्न होने लग जायगें। अतएव आचार शुद्धि रखने वाला आत्मा जिन स्थानों की प्रतीति न होवे तथा जिन २

तप ब्रह्मचर्य व्रत ही है। इसलिये इस व्रत के धारण करने वाले देवों के भी पूज्य माने जाते हैं। जैसे कि —"देव दाणव गंधवा जक्ख रक्खस्स किन्नरा बम्भयारीं नमसंति दुक्करजे करति ते" अर्थात् ब्रह्मचारी को देव, दानव, देव गंधर्व देव यक्ष और राक्षस तथा किन्नर देव इत्यादि सब ही नमस्कार करते हैं कारण कि इस व्रत का धारण करना शूर वीर आत्माओं का ही कर्तव्य है।

इसलिये हे मित्र! देश धर्म, या समानोन्नति के लिये इस व्रत को अवश्य-मेव धारण करना चाहिये। तथा निर्वाण प्राप्ति के लिये इस ब्रह्मचर्य व्रत को धारण कर सुख की प्राप्ति करनी चाहिये।

जिनदास — मरे! मैं आपका उपकार मानता हूं जो आपने मुझ इस व्रत का पवित्र उपदेश दिया है और मैं आपके समक्ष श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी की साक्षी से आयु पर्यंत इस महाव्रत को धारण करता हूं और मैं यह प्रण भी करता हूं कि अब मैं धर्म या समानोन्नति के लिये अपना जीवन यावज्जीवन पर्यंत समर्पण करूंगा। मैं अपने जीवन

की पर्वाह न करता हुआ धर्म या समाज सेवा ही अब करता रहूगा ।

जिनदत्त —सखे ! आपके पवित्र विचारों की मैं अपने पवित्र हृदय से अनुमोदना करता हू और साथ ही श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी से प्रार्थना करता हू कि वे अपनी पवित्र दया से आपकी की हुई प्रतिज्ञाए निर्विघ्न समाप्त कराए अर्थात् आपमे आत्मिक साहस उत्पन्न हो जावे कि जिससे आप अपनी की हुई प्रतिज्ञाए निर्विघ्नता से और सुख पूर्वक पालन कर सकें ।